मनोविज्ञान और आरोग्य

आधुनिक मनोवैज्ञानिक खोजों का प्रकाशक ग्रन्थ

लेखक—

लालजीराम शुक्ल

अध्यापक टीचर्स ट्रेनिङ्ग कालेज, काशी हिन्दू विश्व विद्यालय
[लेखक—सरल मनोविज्ञान, नवीन मनोविज्ञान, शिक्षा मनोविज्ञान, मानसिक चिकित्सा, नीतिशास्त्र आदि]

प्रकाशक—

काशी मनोविज्ञान शाला

बनारस

१९५४

मूल्य २।)

समर्पण

राष्ट्र भाषा हिन्दी के गौरव,

भारतीय संस्कृति के प्राण,

राजर्षि पुरुषोत्तमदासजी टण्डन

को

काशी मनोविज्ञान शाला के तृतीय वार्षिकोत्सव के अवसर पर

सादर समर्पित

दो शब्द

मनुष्य की सब प्रकार की प्रगति उसके मन के बनावट पर निर्भर करती है। हम जितना ही अपने मन का ज्ञान बढ़ाते हैं उतना ही हम अपने आपको सब प्रकार से सुखी और सम्पन्न बनाते हैं। हमारे भाग्य का विधाता हमारे मन से बाहर कोई तत्व नहीं, हम स्वयं ही अपने भाग्य के निर्माता हैं। हमारे प्रति क्षण के विचार ही भाग्य बन जाते हैं। बार बार एकही प्रकार का विचार मन में आने से वह हमारे स्वभाव को विशेष प्रकार का बना देता है। जब बाहरी मन के विचार हमारे भीतरी मन में चले जाते हैं तो वे भाग्य निर्माता बन जाते हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान ने मनुष्य की स्वास्थ्य सम्बन्धी जो खोजें की है उनसे यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य के बहुत से रोगों की जड़ उसके मन में ही रहती है। किसी प्रकार का बुरा विचार, चाहे वह दूसरे के प्रति किया हो अथवा अपने ही प्रति, रोग का जनक होता है। जब तक यह विचार ज्ञात रहता है दुःखद होता ही है, परन्तु जब हम इसका निराकरण न कर केवल उसका विस्मरण करते हैं, तो वह एक विष वृक्ष को जन्म देता है। दूसरे के प्रति लाई गई बुरी भावना अपने आप के प्रति बुरी भापना में परिणत हो जाती हैं और दूसरों का कोसना अपने भाग्य को कोसना बन जाता है। दूसरे के प्रति लाया गया भला अथवा बुरा विचार अपने ही मन में चलता है; दूसरे की कल्पना अपने अभ्यास का आधार मात्र है। इस कल्पना के अभाव में अपना अभ्यास अपने ही ऊपर

आरोपित हो जाता है। अतएव जो मनुष्य नित्य प्रति भले विचारों का अभ्यास करते रहता है जो दूसरों को स्नेहयुक्त विचार भेजता रहता है, उसे अपने आपको कोसने की कभी आवश्यकता नहीं पड़ती। ऐसे व्यक्ति का मन सतत् आरोग्यवान् रहता और उनका शरीर भी स्वस्थ रहता है।

मनुष्य को रोग से मुक्त करने के लिये अनेक प्रकार के भौतिक उपचारों का आविष्कार हुआ है। आधुनिक काल मे न केवल शारीरिक रोगो के लिये भौतिक औषधियों का उपयोग किया जाता है वरन् मानसिक रोगो के लिये भी भौतिक औषधियों का उपयोग किया जाता है। इन उपचारों से मनुष्य प्रति दिन परावलम्बी बनते जा रहा है। वह रोग का कारण अपने आप मे न खोज कर बाहरी परिस्थिति मे खोजता है और उनको हटाने के लिये बाहरी औषधियों पर आश्रित हो जाता है। इससे नये नये रोगों की उत्पत्ति होती है और मनुष्य के दुःखों की सख्या बढ़ती जा रही है। यदि मनुष्य अपने रोग का कारण अपने मन मे ही खोजे और रोग के आने पर अपने आपको सुधारने की चेष्टा करे तो उसे रोग बार बार न सतावे।

प्रस्तुत पुस्तक मे अपने मन को सुधारने की विधि पर प्रकाश डाला गया है। जिन प्रयोगों के आधार पर यह पुस्तक लिखी गई है वे मनोविज्ञानशाला मे ही हुए हैं। हमने आधुनिक पश्चिमी मनोवैज्ञानिक खोजों से लाभ उठाया है परन्तु इन प्रयोगों के आधारभूत सिद्धान्त सनातन और सर्वदेशीय है। इन्हें संसार के सभी ऋषियों ने अपनी भाषामे बार-बार दुहराया है। भारत वर्ष का यह श्रेय है कि जीवन-संचालन के सर्वोत्कृष्ट

सिद्धान्तों का अन्वेषण पहले पहल यहीं हुआ। उच्चा दर्शन, सच्चा धर्म और जीवन उपयोगी सर्वोत्कृष्ट मनोविज्ञानिक सिद्धान्त एक हैं।

यह पुस्तक उन लोगों के लाभार्थ लिखी गई जो समय समय पर अपने ही विचारों से परेशान हो जाते हैं और जो आत्म-चिकित्सा करना चाहते हैं। हम अपने मन को जाने बिना उसकी क्रियाओं को अपने अनुकूल नहीं बना सकते। मन को वश में करने के लिये उसकी बनावट को जानना और अन्तर्मन की क्रियाओं के नियमों को समझना नितांत आवश्यक है। हम जितना ही अपना आत्मज्ञान बढ़ाते हैं उतना ही स्वावलम्बी, सुखी और आरोग्यवान बनते हैं। चिकित्सा मनोविज्ञान के क्षेत्र मे अनेक नई खोजें हो रही हैं। इन खोजों की जानकारी करना हमारा कर्तव्य है। परन्तु, इससे भी अधिक कर्तव्य उन्हें अपने लिये उपयोगी बनाना है। इसके लिये हमारी सभ्यता और संस्कृति को ध्यान में रखना आवश्यक है। सभ्यता के मूल्यों की अवहेलना करके मनुष्य आरोग्यवान नहीं बन सकता। इस पुस्तक में यह बताने की चेष्टा की गई है कि जो बातें मनुष्य को जीवन के अन्य क्षेत्रों में सफल बनाती हैं वे ही उसे आरोग्यवान भी बनाती हैं। हमें जीवन के उच्यतम मूल्यों की प्राप्ति करना श्रेयस्कर हैं। परन्तु उनकी प्राप्ति के ढंग को हमें सुधारना पड़ेगा। मानसिक विकास के नियमों की अवहेलना करके हम उन मूल्यों की प्राप्ति नहीं कर सकते।

लालजीराम शुक्ल काशी मनोविज्ञानशाला

सिद्धिगिरि, बनारस ता० १५-१-५४ ई०

विषय सूची

प्रकरण	नाम	पृष्ठ संख्या

पहला प्रकरण

मनोविज्ञान और जीवन

मानव-जीवन को सफल बनाने के लिये जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे मनोविज्ञान की आवश्यकता होती है। मनोविज्ञान के प्रति जो उदासीनता देखी जाती है उसका कारण साधारण जनता का उसकी उपयोगिता के विषय मे अज्ञान ही है। पढ़े-लिखे लोगो को भी मनोविज्ञान का ज्ञान नहीं रहता। यह विषय स्कूल मे तो पढ़ाया ही नहीं जाता और कालेजों मे भी इसे इस ढग से पढ़ाया जाता है कि उसके प्रति साधारण विद्यार्थी की रुचि न होकर अरुचि हो जाती है। शिक्षकों के लिए मनोविज्ञान अत्यन्त उपयोगी और आवश्यक विषय है, परन्तु इसे ट्रेनिंग कालेज के विद्यार्थी भी अत्यत कठिन विषय मानते है। वे समझते है कि मनोविज्ञान को समझने के लिये किसी विशेष प्रकार की बुद्धि की आवश्यकता है। जब यह विषय अंग्रेजी भाषा मे ही पढ़ाया जाता था तब इस विषय के बहुत से विद्यार्थी उसकी कुछ परिभाषाओं को रटकर ही पास होते थे। यह दोष मनोविज्ञान का नहीं, उसके पढ़ाने की विधि का है। शिक्षा-महारथियों ने मानव-जीवन मे उपयोगिता की दृष्टि से उसके पढ़ाने का कार्यक्रम नहीं बनाया, वरन् उसे एक बौद्धिक ट्रेनिंग देने की दृष्टि से ही पाठ्यक्रम मे रख दिया है।

मनोविज्ञान को रोचक बनाने के लिये यह आवश्यक है कि हम उसके पढ़ाने का ढग ही बदल दे। संवेदना की प्रक्रिया, निरीक्षण करने का ढग, स्मृति के विषय में अनेक सिद्धान्त, शरीर के स्नायुओं की रचना आदि बातों को प्रारम्भिक विद्यार्थियो को न बताकर उन्हे मानव-जीवन के उपयोग मे आनेवाली अनेक बातें पहले बतावें। मनुष्य रोगी क्यों हो जाता है? रोग के मनोवैज्ञानिक कारण क्या हैं? स्त्री-पुरुष अकारण ही क्यो लड़ा करते हैं? पिता-पुत्र मे सदा अनबन क्यों बनी रहती है? हम आसपास के लोगों को अपना मित्र अथवा शत्रु कैसे बना लेते हैं? मनुष्य अनायास दूसरों से क्यों झगड़ जाता है, किसी व्यक्ति मे किसी विशेष प्रकार की लगन अथवा झक क्यो है?—इन बातों को जानना मानव-जीवन को सफल बनाने के लिए जितना आवश्यक है उतना आवश्यक मन के विभिन्न अंगो की बनावट को जानना नहीं है। अपनी व्यावहारिक समस्याओ को हल करने के लिए मनुष्य को मन की बनावट जाननी पड़ेगी। इस प्रकार से प्राप्त ज्ञान स्थायी रहता है।

मनोविज्ञान के प्रति अधिक लोगो की उदासीनता इसलिये भी रहती है कि वे अपने आपको जानना ही नहीं चाहते। मनुष्य के सभी दु:खो की जड़ उसके मन मे ही रहती है। परन्तु मनुष्य इसका कारण सदा बाहरी वातावरण मे खोजता रहता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य वास्तव में अपने दुःख को भीतर से चाहता है और वह उसे छोड़ना नहीं चाहता। दुःख के चले जाने के साथ साथ मनुष्य का अभिमान भी नष्ट होता है और इसको खोने का इतना भय मनुष्य को रहता है कि उसके लिए वह सभी त्याग करने के लिए तैयार रहता है। मन की छानबीन के परिणामस्वरूप मनुष्य को उसकी वे कमजोरियाँ ज्ञात हो जाती हैं जो उसके अभिमान के पीछे छिपी रहती हैं और जिनके छिपे रहने पर ही वह महानता के आत्म-संतोष की अनुभूति कर सकता है। आत्म-ज्ञान होने पर मनुष्य इस झूठी महानता को खो देता है।

अतएव मनोविज्ञान का ठीक अध्ययन करने की सामर्थ उन्हीं लोगो मे होती है जो झूठी महानता से संतोष न कर सच्ची महानता को प्राप्त करना चाहते हैं।

मनोविज्ञान का गहरा अध्ययन बताता है कि मानव समाज की सभी प्रकार की कलह का कारण उसके मन मे है। पारिवारिक जीवन को असफल बनानेवाली आर्थिक कठिनाइयाँ उतनी महत्वपूर्ण नहीं हैं, जितनी मानसिक कठिनाइयाँ हैं। यदि किसी पुरुष के मन के किसी गुप्त स्तर मे व्यभिचार की मनोवृत्ति वर्तमान है तो वह उसे अपनी स्त्री के आचरण पर आरोपित करता है। ऐसा व्यक्ति अपनी पत्नी के सभी व्यवहारो को शँका की दृष्टि से देखने लगता है। कुछ लोग स्वप्न मे देखने लगते हैं कि उनकी पत्नी किसी दूसरे व्यक्ति से प्रेम प्रलाप कर रही है। फ्रायड महाशय ने अपनी "इण्ट्रोडक्टरी लेक्चर्स आन साइकोएनालाइसिस" नामक पुस्तक मे ऐसे अनेक लोगों का वृत्तात दिया है जिनमे व्यभिचार की मनोवृत्ति आ जाने पर वे उसे अपने दूसरे पारिवारिक जीवन के साथी पर आरोपित करने लगे थे। एक प्रौढ़ महिला अपने पति को, जो एक कारखाने के मैनेजर थे, उसी कारखाने मे काम करने वाली एक युवती से आसक्त समझने लगी। उसके मनोविश्लेषण से पता चला कि वह स्वय अपने दामाद से, जो उसी परिवार मे रहता था, आसक्त थी। उसने अपने ही मन का भाव अपने पति पर आरोपित कर दिया।

हमारी मनोविज्ञानशाला मे कितने ही रोगियो ने आत्म स्वीकृति की है कि वे अपनी पत्नी को अकारण ही व्यभिचारिणी मानते थे। मन की खोज करने पर पता चला कि उनके ही मन के भीतरी भाग मे व्यभिचार की मनोवृत्ति क्रियाशील थी। कितने ही लोगो मे समलिगी प्रेम की प्रबल भूख रहती है। ऐसे लोग वेश्यागमन करते अथवा परस्त्री प्रसंग करते हैं, परन्तु इससे यह भूख नहीं शान्त होती। फिर वे अनेक प्रकार के रोगो का आवाहन करने लगते हैं और रोगग्रस्त हो जाते हैं।

ऐसे लोग अपनी स्त्री को पूरा प्यार नहीं दे पाते और उनसे अपने बच्चों का लालन-पालन भी ठीक से नहीं होता। वे उनके प्रति उदासीन बने रहते हैं। इन लोगो को अपनी गुप्त वासना का ज्ञान नहीं रहता। यदि उन्हे अपनी गुप्त वासना का ज्ञान हो जावे तो उनके अभिमान को अवश्य ठेस पहुँचे परन्तु उनका पारिवारिक जीवन सरस हो जाय। मनुष्य की समलिंगी प्रेम की इच्छा चेतना के स्तर पर आ जाने से परिवर्तित हो जाती है। फिर यही इच्छा जो दमित रहने पर रोग और पारिवारिक कलह का रूप लेती है ज्ञात हो जाने पर कविता, कला, संगीत साहित्यिक रचनाओं और लोक सेवा मे प्रकाशित होने लगती है।

कितने ही नवयुवक साधारण सी भूलों के लिए अपने आपको कोसते रहते हैं। इससे अकारण ही उनकी मानसिक शक्ति नष्ट हो जाती है। यदि अपने आपको कोसना छोड़कर वे अपनी शक्ति को किसी रचनात्मक कार्य मे लगाये तो वे अपने को सुखी बनाने के साथ ही साथ समाज को भी अपनी मौलिक देन देवे। परन्तु उनकी शक्ति को रचनात्मक मार्ग मे लगाने के लिये कुशल मनोवैज्ञानिक की आवश्यकता है। जब ये युवक न केवल अपनी कमजोरियों का वरन् अपने मन मे निहित अपूर्व शक्ति का ज्ञान कर लेते हैं तो वे अपने को कोसने के बदले लोककल्याण के कार्य मे लग जाते है। मनोविज्ञान के अध्ययन का उद्देश्य मनुष्य को केवल कमजोरियों का ज्ञान कराना नहीं है, वरन् उसकी अपार शक्तियो का ज्ञान कराना है।

जिन लोगों के मन मे किसी प्रकार की आत्म-हीनता की भावना रहती है वे उसे भुलाने के लिये अनेक प्रकार की झूठी महानता का सहारा लेते हैं। यदि मनुष्य को अपनी कमी का ज्ञान सदा रहे तो वह आत्मग्लानि से आत्म-हत्या करले। अतएव स्वभावतः उसमे अपने आपको भुला देने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। मनुष्य मे जिस प्रकार की कमी होती है, उसमे उसी के अनुरूप महानता प्राप्त करने की प्रेरणा

उत्पन्न हो जाती है जिससे वह अपनी कमी को ढाँक सके। धन की कमी धनी लोगों की निन्दा का रूप धारण करती है, समाज में सम्मान की कमी से सामाजिक जीवन को ही बुरा देखने की प्रेरणा होती है, चरित्र की कमी की ग्लानि मनुष्य को तपस्या की ओर ले जाती है; बचपन मे लड़की कहे जाने वाले युवक पहलवान बन जाते हैं; माता पिता से अपमानित अथवा त्रस्त व्यक्ति क्रूर और एक सत्तावादी शासक बन जाता है। परन्तु अपनी कमी को भुलाने की प्रेरणा से जो कार्य होते हैं उनसे मनुष्य को सच्चा संतोष नहीं होता। ऐसे मनुष्य से कुछ ऐसी भूलें हो जाती हैं जिनके कारण उनका लौकिक जीवन नारकीय बन जाता है। वह अपनी कमियों को दूसरो में देखने लगता है और उनकी कमियों से अपने आपको दुखी बनाता है। दूसरो की आलोचना करने अथवा उनका सुधार करने की भावना उसे दूसरों का शत्रु बना देती है। इस प्रकार उसका जीवन असफल रहता है। दूसरो की प्रशसा के भूखे वे ही लोग होते हैं जिनकी आत्मा अपनी प्रशसा नहीं करती अर्थात् जो अपने आप मे आन्तरिक ग्लानि का अनुभव करते है।

मनुष्य के मन का बड़ा ही घनिष्ट सम्बन्ध उसके शरीर और स्वास्थ्य से है। कहा जाता है कि मनुष्य का जैसा शरीर होता है वैसा ही उसका मन भी होता है, आधुनिक मनोविज्ञान इस कथन के दूसरे पहलू पर भी प्रकाश डालना है अर्थात् जैसा मनुष्य का मन होता है उसका शरीर भी वैसा ही होता, मानसिक सतोष और स्वस्थ्य शारीरिक आरोग्य उत्पन्न करते हैं और इनका अभाव रोगकी उत्पत्ति करते हैं। जब मनुष्य अपनी किसी प्रकार भी आकांक्षामें रुकावट पाता है तब वह असंतोष की अनभूति करता है जब इस असतोष की भावना का भी दमन हो जाता है तब उसे शारीरिक अथवा मानसिक रोग हो जाता है। रोगी को रोग इसलिये ही होता है कि रोगी के आन्तरिक मन को उसकी आवश्यकता है।

आत्महीनता की वेदना से पीड़ित व्यक्ति उसे भुलाने के लिए रोगों

का आवाहन भी करते हैं। इससे वे जटिल रोगों के घर भी बन जाते हैं। मनोविज्ञान से एक ओर मनुष्य को अपनी कमी का ज्ञान होता है और दूसरी ओर उसे अपनी शक्ति का भी ज्ञान होता है। जो मनोवैज्ञानिक किसी व्यक्ति को उसकी कमी का ही ज्ञान कराते हैं वे उसे लाभ न पहुँचाकर हानि ही पहुँचाते है। मनोविश्लेष चिकित्सा विधि में यदि कोई कमी है तो वह उसकी एकाङ्गिता की है। रोगी के मन की छानबीन करके मनोविश्लेषक उसे अपनी कमियों का ज्ञान तो करा देता है, परन्तु उन कमियों की पूर्ति मे वह सहायक नहीं बनता। कहा जाता है कि वे कमियाँ चेतना की सतह पर आने से नष्ट हो जाती हैं। परन्तु पहले तो चेतना का गुप्तचर विभाग उन्हें तब तक सतह पर आने ही नहीं देगा जब तक उसमें उनको नष्ट करने की शक्ति नहीं है और दूसरे यदि वे चेतना की निर्बल अवस्था मे बाहर आ गईं तो मनुष्य के जीवन को भार रूप बना देंगी। अपने आपको अभागा अथवा बहुत बुरा समझने वाला व्यक्ति आत्महत्या की ओर प्रेरित होता है। सच्चा मनोविज्ञान मनुष्य में आत्मविश्वास उत्पन्न करता है। यह आत्मविश्वास मैत्री-भावना के अभ्यास से, रचनात्मक कार्य से और आत्मा के सच्चे स्वरूप के ज्ञान से बढ़ता है।

——

दूसरा प्रकरण

मानसिक द्वन्द्व

मनुष्य को दो प्रकार की लड़ाई सदा लड़ते रहना पड़ता है एक बाहरी और दूसरी भीतरी। इस लड़ाई के लड़ते रहने मे ही जीवन है। इसी से उसकी इच्छाशक्ति चरित्र अथवा व्यक्तित्व का गढ़न होता है। जो व्यक्ति इन लड़ाइयो से भागता है वह अपने जीवन को भार रूप बना लेता है। बहादुर बनके जीना ही जीना है। भययुक्त होकर जीना मृत्यु तुल्य है।

उपर्युक्त दो प्रकार की लड़ाइयो का आपस का घनिष्ट सम्बन्ध है। बाहरी लड़ाई मे विजय मनुष्य को कुछ दूर तक आन्तिरिक विजय प्राप्त करने का सामर्थ्य प्रदान करती है। यूरुप के कुछ विद्वानो का मत है कि आत्म-विजय का सर्वोत्तम उपाय अपने आपको शारीरिक त्रास देने के कार्य मे न लजाकर किसी रचनात्मक काम मे लगाना है। ऐसे काम को पूरे करने मे मनुष्य को अनेक प्रकार का आत्म-सयम करना पड़ता है और इससे उसकी पाशविक प्रवृत्तिया अपने-आप ही उसके काबू मे आ जाती है। इस प्रकार उन प्रवृत्तियों की शक्ति का सदुपयोग अथवा उदात्तीकरण हो जाता है। मानसिक शक्ति प्रकाशन से समाप्त होती है और दमन से वह संचित हो जाती है। फिर वह विकृत रूप से रोग अथवा अपराध मे नकलती है।

हम अपनी बाहरी लड़ाई मे कभी-कभी परमात्मा की सहायता की अपेक्षा करते हैं। परमात्मा वह तत्व है जो मनुष्य की बुद्धि की पहुँच के बाहर है। यह नई शक्ति हमे सफल बनने के लिये दे देता है। किसी प्रकार की अनायास सहायता परमात्मा की सहायता मानी जाती है।

जड़वादी व्यक्ति इस सहायता मे विश्वास नहीं करते। परन्तु वास्तव मे संसार के विधान मे कई बाते ऐसी होती है जिनका अर्थ मनुष्य की बुद्धि नहीं लगा सकती। अपनी ही सामर्थता मे विश्वास करनेवाले व्यक्ति को निराशा के समय आशा देनेवाला कोई तत्त्व नहीं रहता। जब ऐसा व्यक्ति जीवन सग्राम मे हारने लगता है तब वह मृत्यु का आवाहन करने लगता है। वह अपने जीवन को भार रूप बना लेता है। सर्वशक्तिमान परमात्माका विश्वास मनुष्य के अभिमान को कम करके जीवन की अनेक गुत्थियो को सुलझा देता है।

जीवन की बाहरी लडाई मे कितने ही लोग बहुत कुछ सफल हो जाते हैं, परन्तु भीतरी लड़ाई मे वे असफल रहते हैं। अपने आप पर काबू प्राप्त करना बाहरी जगत पर काबू प्राप्त करने से कहीं दुष्कर कार्य है। कितने ही लोगों की बाहरी कठिनाइयो का प्रमुख कारण उनके मनमे होता है। वे अपनी भीतरी कठिनाइयो को ही बाहरी जगत मे प्रकाशित होते देखते हैं। दूसरे के देखने के लिये वे बाहरी परिस्थितियों से लड़ते हैं, पर वास्तव मे वे अपने आपसे ही लड़ते रहते है। जो लोग सदा भारी मानसिक संघर्ष मे पड़े रहते हैं वे बाहरी जगत मे भी अनायास संघर्ष की स्थिति उत्पन्न कर लेते हैं। इस प्रकार का संघर्ष उत्पन्न किये बिना वे जी नहीं सकते। जो भीतरी सघर्ष मे अन्त मे विजय प्राप्त कर लेते हैं वे बाहरी संघर्ष मे भी विजय प्राप्त करने मे समर्थ होते हैं, और जो भीतरी संघर्ष मे विफल हो जाते हैं वे बाहरी संघर्ष मे भी विफल हो जाते हैं। नेपोलियन, तथा हिटलर का जीवन इसी प्रकार का था। वे कुछ दिन तक सफल रहे और फिर उन्होने अपना जीवन निराशा और दुःख मे बिताया। मरते समय जो व्यक्ति अपने आपको कृत-कृत्य माने और जो सफलता के विचारों को जगत को दे जावे वही सफल जीवन का मानव कहा जा सकता है। यह तभी संभव है जब कि व्यक्ति अपने आन्तरिक शत्रुओपर विजय प्राप्त कर लेता है।

यह विजय कैसे प्राप्त होती है ? इसके लिए लडाई के दोनों पक्षों को जानना आवश्यक है। यह लड़ाई मनुष्य के व्यक्तित्व और उसकी प्राकृतिक इच्छाओ मे होती हैं। मनुष्य अपने व्यक्तित्व मे आदर्शवादिता का समावेश करता है और अपनी प्राकृतिक इच्छाओं का दमन करता है। जबतक मनुष्य का यह द्वन्द्व उसके चेतन मन के स्तर पर चलता है तबतक वह उसके व्यक्तित्व के लिए हानिकर नहीं होता। परन्तु जब यह द्वन्द्व उसके अचेतन मन मे चलने लगता है तो वह हानिकर हो जाता है। अततोगत्वा आदर्शवादी और भोगवादी प्रवृत्तियां सम्पूर्ण व्यक्तित्व की अग हैं। जबतक मनुष्य इन दोनों अंगों को स्वीकार करके उन्हे उचित स्थान देता है तब तक जीवन मे कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती। परन्तु कभी-कभी मनुष्य अपने भोगमय स्वत्व से एकत्व कर लेता है और फिर उसका आदर्शवादी स्वत्व उसकी भर्त्सना करता है। साधारणत: मनुष्य अपने आप का एकत्व आदर्शवादिता से ही करता है। इसके कारण भोगवादी प्रवृत्तिया दमित अवस्था मे रहती है। यदि इन प्रवृत्तियों की शक्ति का सदुपयोग हुआ तो वे मनुष्यके व्यक्तित्व का बल बढ़ाती है, अन्यथा वे शत्रु बनकर मनुष्य के व्यक्तित्व को छिन्न भिन्न करने का प्रयत्न करती है। इन्ही प्रवृत्तियों के कारण मनुष्य अनेक प्रकार के भयानक स्वप्न देखता है, वह अकारण चिन्ता और भय मे पड़ जाता है, उसे अनेक प्रकार के हठी विचार सताते हैं और उसे हिष्टीरिया, उन्माद आदि रोगो को सहना पडता है। ये मानसिक रोग कभी-कभी शारीरिक रोग का रूप धारण कर लेते हैं, अथवा किसी ऐसी दुर्घटना को उत्पन्न कर देते हैं जिससे मनुष्य के जीवन का अन्त हो जाता है।

अपनी दमित आन्तरिक प्रवृत्तियो को वश मे करने का उपाय उन्हें और भी दबाने लग जाना नहीं हैं, क्योंकि ये प्रवृत्तिया वास्तव मे मनुष्य के इच्छाशक्ति के परे हो जाती है। हम अपनी उन्हीं प्रवृत्तियों को जीतने मे समर्थ होते हैं जिन्हें हम जानते हैं, जिस शत्रु का हमें ज्ञान ही नहीं उसे

हम कैसे जीतेगे ? कभी-कभी मनुष्य अपने अन्तर्द्वन्द्व को भुलाने के लिये ऐसा कोई काम हाथ मे ले लेता जिसमे उसे भारी परिश्रम करना पड़े। वह फिर बिना ठीक से सोये, खाये पिये अपने काममे अथक परिश्रम करता है। इस प्रकार वह कुछ कालतक सफल सा दिखाई देता है। परन्तु उसका परिश्रम सम्यक और सहजभाव से न होने के कारण उसकी मानसिक शक्ति को समाप्त कर देता है। ऐसे व्यक्ति को फिर न्यूरेसथेनिया, ऐग्जाइटी न्यूरोसिस, हिस्टीरिया का रोग हो जाता है। फिर कई लोग कहते हैं कि उसके परिश्रम ने उसका मानसिक रोग अथवा स्नायुओं का रोग उत्पन्न किया। वास्तव मे उसके परिश्रम का कारण ही उसका छिपा मानसिक रोग था। पहले वह अप्रगट था, अब प्रगट हो गया।

अपनी प्राकृतिक प्रवृत्तियों पर विजय उनसे शत्रुता स्थापित करने से नहीं होती, वरन् उनसे मित्रता स्थापित करने से ही हो सकती है। इसके लिये इन प्रवृत्तियों को चेतना की सतह पर आने की सुविधा देना आवश्यक है। इनसे शत्रुभाव रखने से उनका न तो पता चलता है और न वे वश में आती हैं। यही कारण है कि मनोविश्लेषणविधि मानसिक चिकित्सा मे असफल हो रही है। जितना ही व्यक्तित्व का गुप्तचर विभाग अपराधियों की खोज में प्रवीण हो जाता है, प्रवृतिया भी उतनी ही अपने आपको छिपाये रखने में कुशल होती जाती है। इनके प्रति अपना दृष्टिकोण परिवर्तित किये बिना वे कभी भी वश मे नहीं आवेगी।

अपनी गुप्त दमित प्रवृत्तियो को चेतना की सतह पर लाने का उपाय मानसिक शैथिलीकरण का अभ्यास है। जो मनुष्य अपने अभिमान को जितना कम करता है, उसकी प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ उतनी ही उसकी मित्र बन जाती हैं। फिर वे मनुष्य की आदर्शवादिता के विकास मे बाधक न होकर सहायक होती हैं। जो व्यक्ति अपने आप को महान् समझता है उसके शत्रु भी अनेक होते हैं। वह दूसरे लोगों मे

अपनत्व का भाव स्थापित करने मे असमर्थ रहता है। ऐसे व्यक्ति के दिन प्रतिदिन शत्रु बढते जाते हैं। इसी प्रकार जिस व्यक्ति का किसी प्रकार का अहँ भाव बढा हुआ है, वह अपनी प्राकृतिक प्रवृत्तियों को वश मे करने मे असमर्थ रहता है। बाहरी शत्रुओं पर स्थायी विजय प्राप्त करने के लिये उनके प्रति मैत्री भाव स्थापित करना आवश्यक है। इसी प्रकार आन्तरिक शत्रुओ पर विजय प्राप्त करने के लिये उनके प्रति मैत्री भाव स्थापित करना आवश्यक है। जिस प्रकार परमात्मा ससार के सभी प्राणियों की रक्षा करता है, चाहे वे हमारे शत्रु हो अथवा मित्र और परमात्मा के ध्यान से शत्रुता का भाव ही नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार आत्म भाव के आने पर हमारी पाशविक शक्तिया हमारे व्यक्तित्व की विरोधी न बन कर उसकी सहायक बन जाती है।

आत्मभाव का अभ्यास साम्यभाव अथवा मानसिक शैथिलीकरण का अभ्यास है। इस अभ्यास से विरोधी तत्वो मे एकत्व स्थापित हो जाता है। आत्मभाव के अभ्यासी को अपने आप से छिपाने की कोई बात ही नहीं रहती। अतएव ऐसे व्यक्ति की सभी प्रवृत्तियाँ चेतना के समक्ष आकर शान्त हो जाती है। इस अभ्यास के करने वाले व्यक्ति को यह विश्वास रखना आवश्यक है कि सभी प्रकार की क्रियाओ का अन्तिम लक्ष्य भलाई की प्राप्ति करना है। हम अपने आप ही भलाई की ओर जा रहे हैं। इस भलाई के बिचार को ध्यान मे रखते हुए दबी वासनाओं को प्रकाशित होने की छूट देने से उनका अन्त भले मे ही होता है। मनुष्य जब अपनी दबी वासनाओं को साक्षी रूप से देखता है तो वे उसके व्यक्तित्व का उपयोगी अग बन जाती है और उसे शक्ति प्रदान करती हैं।

अपने आपको आन्तरिक कटिनाई मे पाने पर उससे मुक्त होने का एक उपाय उस परमतत्व का चिन्तन करना है जो देश और काल के परे है। जिस प्रकार शत्रु-मित्र भाव से अलित ससार के नियता की

कल्पना मनुष्य को बल प्रदान करती है, इसी प्रकार भली और बुरी प्रवृत्तियो की कल्पना से मुक्त मनुष्य का निर्गुण तत्व का विचार उसे बल प्रदान करता है। इससे अहँभाव (ईगो) तथा अपनी क्लेशकर प्रवृत्तियां अपने आप ही शान्त हो जाती है। यह शिव भावना का अभ्यास है। शिव को विष भी अमृत हो जाता है और सर्प उसका आभूषण बन जाता है। इस शिव भाव के, जो देश काल के परे तत्व का नाम है, चिन्तन से मनुष्य के मन मे अपूर्व शान्ति उत्पन्न होती है और उसका मानसिक द्वन्द्व अपने आप ही नष्ट हो जाता है।

इस प्रसग मे डाक्टर विलियम ब्राउन महाशय का आत्मविजय सम्बन्धी विचार जो उन्होने अपनी "साइकोलाजी एण्ड साइकोथेपी" नामक पुस्तक मे दिया है, उल्लेनीय है—'सत्य, जो कि मनुष्य की आत्मा है, काल की परिधि के बाहर है। वह काल के ऊपर है। यह समय के बाहर नहीं है वरन् समय के परे है। आत्म-तत्व समय के परे होने के कारण ही हमे स्वतंत्रता रहती है और इसी स्वतत्रता के कारण हम अपनी मूल प्रवृत्तियों को वश मे करके रखते हैं। यदि हम भौतिक विज्ञान की दृष्टि से अपनी मूलप्रवृत्तियो को वश मे करने के प्रयत्न की बात करें तो हम आगे न बढ़ सकेंगे। भौतिक विज्ञान मे नियतवाद ही ठीक है। परन्तु तत्व देशकाल के परे है। तत्व का स्वरूप ज्ञानमय है इसलिये मै भी तत्व का अंग हूँ। मेरे ज्ञानमय तत्व के अंग होने के कारण मै स्वतत्र भी हूँ। इच्छाशक्ति स्वतन्त्र अवश्य है, परन्तु यह स्वतन्त्रता कैसे सम्भव है इसे हम भौतिक विज्ञान की पद्धति से समझा नहीं सकते। कान्ट महाशय का कथन है कि मनुष्य का गहनतम भाग प्रपच के परे है। यह भाव निर्गुण तत्व है, स्वत्व सचमुच में परिवर्तनशीलता के परे है। जब मनुष्य काम करता है तो उसकी क्रियाये वैज्ञानिक विचारपद्धति मे आती हैं। इससे मनुष्य परतत्र दिखाई देता है। परन्तु सचमुच मे उसका सार भाग समय के परे है। वह देशकाल और कारण कार्यभाव के परे

है। मनुष्य का यौद्धिक ज्ञान प्रपंच तक ही जाता है, परन्तु हममे बुद्धि से परे दूसरी बड़ी और गम्भीर शक्ति-ज्ञान भी है। इस शक्ति को अर्न्तदृष्टि कहा जाता है। अर्न्तदृष्टि बौद्धिक ज्ञान के समान वस्तु नहीं है, वरन् एक विस्तीर्ण और सम्पूर्ण ज्ञानशक्ति है।"

मनुष्य जैसे जैसे अपने आपका ज्ञान देश और काल के परे आत्म-तत्व के रूप मे जानता है, वैसे वैसे वह आत्म-विजय मे समर्थ होता है। मनुष्य के अभिमान मे वह शक्ति नहीं है कि वह मन मे स्थित प्रवृत्तियो पर विजय प्राप्त कर सके। मनुष्य का सामान्य व्यक्तित्व अहकारमय रहता है। इस अहकार के बढ़ने पर मनुष्य की मानसिक शक्ति कम हो जाती है। बढ़े हुये अहंकार की अवस्था मे मानसिक विभाजन की उपस्थिति रहती और समन्वय की अवस्था का अभाव रहता है। जब मनुष्य अपने आपको अहंकाररूप न जानकर साक्षीरूप मानता है तो अहकार से विरोध करने वाली शक्तिया अपने आप ही उसके काबू मे आ जाती हैं, जबतक मनुष्य अपने आपको निर्गुण तत्त्व के रूप मे ध्यान नहीं करता, तबतक वह अपने मानसिक द्वन्द्व को अन्त करने मे सफल नहीं होता। अपने आपको साक्षी रूप मे जानने से मनुष्य की पारस्परिक विरोधी भावनाये अपने आप ही शान्त हो जाती हैं।

मानसिक द्वन्द्व का समाप्त होना मनुष्य के व्यक्तित्व मे एकता स्थापित करने तथा मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य लाभ करने के लिए नितान्त आवश्यक है। जब तक मनुष्य का व्यक्तित्व आन्तरिक विभाजन की अवस्था मे है तब तक वह न तो बली होता है और न स्वस्थ्य। ऐसे व्यक्ति को सरलता से भौतिक रोग भी पकड़ लेते हैं। ऐसे व्यक्ति की आदर्शवादिता भी उसके मानसिक रोग का द्योतक है। वह व्यक्ति उस राष्ट्र के समान निकम्मा होता है जो ऊँचे आदर्शों को प्रस्तुत करता है। जिसका विश्व के रंगमच पर सम्मान है परन्तु जिसके घर मे सब प्रकार का दिवालियापन है।

तीसरा प्रकरण

मानसिक द्वन्द्वों की प्रतिक्रियायें

मनुष्य के मन में अनेक प्रकार के द्वन्द्व (संघर्ष) चलते हैं। इन द्वन्द्वों मे कुछ का ज्ञान हमे रहता है और कुछ का ज्ञान हमे नहीं रहता। मनुष्य की चेतना की सतह पर चलनेवाले सघर्ष को मनुष्य सुलझा सकता है, परन्तु चेतना के स्तर के नीचे चलनेवाले सघर्ष को सुलझाना कठिन होता है। मनुष्य मे दो प्रकार की प्रवृत्तिया सदा कार्य किया करती हैं—एक भोगवादी और दूसरी आदर्शवादी। कभी-कभी भोगवादी प्रवृतियों मे आपस मे द्वन्द्व हो जाता है और कभी आदर्शवादियो मे। इन द्वन्द्वो को सुलझा लेने मे ही मनुष्य के जीवन की सफलता है। कितने ही लोग किसी काम के विषय मे निर्णय ही नहीं कर पाते, कभी कभी एक प्रकार का निश्चय करके वे उसे बदल देते हैं; कभी किसी काम को करते हुए अनेक प्रकार की बाधाओं का वे अपने भीतर अनुभव करते हैं। ये बाधाये उस प्रवृत्ति के कारण होती हैं जो सघर्ष करने के पश्चात् हारकर दमित हो जाती है। इस प्रकार के संघर्ष के कारण मनुष्य पूरे मन से किसी कार्य को नहीं कर पाता।

उक्त प्रकार का संघर्ष हम सभी लोगों के मन मे चलता रहता है। जीवन बिना मानसिक सघर्ष के संभव नहीं। जब मनुष्य के जीवन मे निश्चित सिद्धान्त काम करने लगते हैं तो मानसिक सघर्ष की कमी हो जाती है। जब दो प्रवृत्तियां मनुष्य की चेतना की सतह पर आती है तो वह अपने सिद्धान्त से उनका मिलान करता है। जो प्रवृत्ति जीवन के सिद्धान्त की पोषक होती है उसे मनुष्य कार्यान्वित होने देता है और

जो उसकी विरोधी होती है उसे त्याग देता है। मनुष्य के जीवन के सिद्धान्तों पर इन प्रवृतियो का बल निर्भर करता है। ये प्रवृतियाँ चेतना की सतह के आने के पूर्व ही बली अथवा निर्बल बन के आती है। सिद्धान्त के अनुकूल प्रवृति पूरे बल से चेतना की सतह पर आती है और उसके प्रतिकूल प्रवृति डरती हुई चेतना के समक्ष आती है और सरलता से वह चेतना से अलग भी कर दी जाती है।

परन्तु जीवन के सिद्धान्त बनना बहुत देर की बात है। यह कई दिनों के अनुभवो के बाद बनते हैं। अनेक दिन के मानसिक सघर्ष के पश्चात् ही जीवन सिद्धान्तिक बनता है। जो सिद्धान्त समय के पूर्व बन जाते है उनसे मनुष्य को लाभ न होकर हानि ही होती है। ये सिद्धान्त अपने आप द्वारा निर्मित न होकर किसी प्रभावकारी व्यक्ति से उधार ले लिये जाते है। इन सिद्धान्तो को मनुष्य बड़ी दृढ़ता से पकड़ता है और उनके विपय मे हठी हो जाता है। परन्तु सिद्धान्तों के विषय मे हठी बनने से मनुष्य का मानसिक विकास नहीं होता। मनुष्य के मानसिक स्वास्थ्य के लिये यह आवश्यक है कि उसके सिद्धान्तों मे विकास उसकी बुद्धि और क्रियात्मक शक्तियों के विकास के साथ साथ होता रहे। जिस व्यक्ति के जीवन संचालन के सिद्धान्तों मे विकास नहीं होता वह जीवन मे अन्य प्रकार की प्रगति भी नहीं कर पाता।

मनुष्य के मन का ज्ञात संघर्ष मनुष्य के चरित्र को बनाता है। इससे भिन्न परिणाम मनुष्य के मन के भीतर चलने वाले अज्ञात सघर्ष का होता है। यह संघर्ष भी मनुष्य की दो भोगात्मक प्रवृत्तियों मे अथवा किसी भोगात्मक प्रवृति और आदर्श की भावना के बीच होता है। इस मानसिक स्थिति मे मनुष्य न तो उसकी प्राकृतिक प्रवृति को ही जान पाता है और न उसको दबानेवाली आदर्शमयी शक्ति को जान पाता है। इन दोनो के प्रतीक कभी-कभी चेतना की सतह पर आते है. परन्तु ये प्रवृत्तियाँ प्रतीक रूप से ही आती हैं। कभी-कभी ये प्रवृतिया चेतना की सतह पर आने के पूर्व

इतनी परिवर्तित हो जाती है कि वे पहचान मे नहीं आती । हम कितने ही मनुष्यो को बड़ा विनयशील पाते है । वे अपने व्यवहार मे इतने नम्र होते हैं कि हम आश्चर्य करते हैं कि इतना महान् व्यक्ति इतना विनयशील क्यो है । परन्तु जहा मनुष्य मे अत्यधिक विनय हो, जहां वह अपनी कमजोरी को बारबार स्वीकार करे, वहाँ समझना चाहिये कि यह उसका ज्ञात व्यवहार विरोधी प्रवृति का आवरण मात्र है । विनयशीलता के नीचे बडप्पन का अभिमान और कमजोरी की स्वीकृति के पीछे पूर्णता का अभिमान कार्य करता है । इसका एक सुन्दर उदाहरण हेड फील्ड महाशय ने अपनी "साइकालाजी एण्ड मारल्स" नामक पुस्तकमे दिया है । एक मिहला बात-बात मे कहा करती थी, 'मैं कितनी मूर्ख हूँ ।' यह उसका सॅकुन्तकिया बन गया था । एक होशयार मनुष्य इसके पीछे काम करनेवाली मनोवृति को समझ गया । अतएव जब उससे बातचीत करते समय उस महिला ने दो तीन बार कहा कि 'मैं कितनो मूर्ख हूँ' तो वह एकाएक कह पडा "फिर आप इसे प्रकाशित ही क्यों करती हैं," अर्थात् वास्तव मे आप मूर्ख तो हैं ही । इस बात को सुनकर महिला का चेहरा लाल पड़ गया । वास्तव मे महिला अपने आपको मूर्ख नहीं, वरन् योग्य समझती थी । उसका आन्तरिक मन चाहता था कि जब वह अपने आप को मूर्ख कहे तो दूसरे लोग उससे कहे कि 'नहीं आप तो बड़ी योग्य हैं आप मूर्ख नहीं हैं' । अपनी प्रशंसा सुनने के भूखे मन ने ही यह उपाय निकाला था । इस बात का ज्ञान स्वयं उस महिला को न था । यह सब उसके अनजाने होता था । इसी प्रकार हमारी बहुत कुछ भूल स्वीकृति और विनय का भाव केवल ढोंगमात्र होता है, जिसे हम स्वयं ही नहीं जान पाते । अपने आपको धोखा देते हुए हम दूसरों के समक्ष विनीत बनकर उपस्थित होते है । चेतन मन से हम जैसा अपने आपको जानते हैं वैसे हम आन्तरिक मन से नहीं होते । अपूर्णता के भाव के पीछे पूर्णता का और विनयशीलता के पीछे महानता का अभिमान छिपा रहता है ।

मनुष्य के इस छिपे अभिमान और उसकी छिपी वासना अथवा प्राकृतिक प्रवृत्ति मे जब संघर्ष होता है तब मानसिक बेचैनी, अकारण चिन्ता, भय, झक, सांकेतिक चेष्टा, कल्पित शारीरिक रोग आदि की उत्पत्ति होती हे। मान लीजिये, किसी व्यक्ति को अकेले मे रहने का भय है। इस अकेले में छूटने के भय के पीछे एक ओर मनुष्य की विकृति प्राकृतिक प्रवृत्ति काम करती है और दूसरी ओर उसको दमन करनेवाली प्रवृत्ति भी काम करती है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ मनुष्य की चेतना की सतह के नीचे काम करती है। मनुष्य की विकृति प्राकृतिक प्रवृत्ति उसे चोरी करने, बलात्कार करने, व्यभिचार करने, दूसरों को त्रास देने अथवा उनकी हत्या करने को मनुष्य को उत्तेजित करती है, परन्तु इस प्रवृति के प्रकाशन के पूर्व ही उसकी विरोधी प्रवृति उसे दबा देती है। यह दबाव भय के रूप मे आता है। अकेले छूट जाने पर यह संभव है कि मनुष्य व्यभिचार कर बैठे—हस्तमैथुन, समलिंगी व्यभिचार अथवा वैश्यागमन करले। अतएव उसकी नैतिकता का अभिमान चेतन की सतह के नीचे रहते हुए इस प्रकार की संभावना को अकेले रहने का भय उत्पन्न करके रोक देता है। जिस व्यक्ति की प्रतिष्ठा बढ़ी चढ़ी है, वह अपने जाने-बूझे लोगो की जानकारी में व्यभिचार नहीं करेगा; अतएव कभी कभी अकेले रहने का भय एक विलक्षण रूप ले लेता है। इस स्थिति मे मनुष्य किसी भी मनुष्य के साथ रहने से शान्ति नहीं पाता, उसे अपने सुपरिचित व्यक्ति को ही साथ रखना पड़ता है।

लेखक के उपचार में एक बड़ा सुयोग्य पढ़ा लिखा नवयुवक आया। यह एक कालेज का अध्यापक है। इसे कई दिनों से अकेले रहने का भय था। इस भय के कारण वह घर से अपने कालेज तक अकेला नहीं जा सकता था। उसे बाध्य होकर किसी न किसी व्यक्ति को साथ ले जाना पड़ता था। कभी चपरासी को साथ ले लेता था, कभी किसी साथी को ही साथ ले लेता, कभी अपने विद्यार्थी को साथ ले लेता और जब कोई

व्यक्ति साथ जाने को न मिलता तो वह अपनी पांच वर्षीय कन्या को ही साथ ले लेता था। भला इस निरर्थक साथी से क्या लाभ हो सकता है। वह स्वयं अपनी इस मनोवृति से परेशान रहता था। वह एक क्षण के लिये अपने आपको अकेला नहीं छोड़ पाता था। उसके मानसिक अध्ययन से पता चला कि उसमें व्यभिचार की दमित प्रवृत्ति थी। वह आदर्शवादी भी था और इसका उसके अचेतन मनमें गर्व था। यह अज्ञात नैतिकता का अभिमान (जिसे आधुनिक मनोविज्ञान में सुपरईगो कहा जाता है) अकारण भय को उत्पन्न करके उसकी व्यभिचार की प्रवृति का दमन करता था। अकेले रह जाने पर ही वह व्यभिचार में प्रवृत्त हो सकता था, अतएव उसका सुपरईगो उसे अकेला ही नहीं रहने देता था। इस व्यक्ति को किशोरावस्था की दबी हस्तमैथुन की प्रवृत्ति थी। इस प्रवृत्ति का दमन भारी आत्म-भर्त्सना के बाद हुआ था; परन्तु उसका सर्वथा निराकरण नहीं हुआ। उसका चेतन मन का संघर्ष अब अचेतन मनमें होने लगा और उसका परिणाम प्रतीक रूप से चेतना में भय मे प्रकाशित हुआ। यह भय उसे आत्म-भर्त्सना से बचाता था।

मनुष्य की भय की भावना दो विरोधी प्रवृत्तियो का परिणाम होता है—एक प्रकाशन चाहनेवाले प्रवृत्ति, जो प्रायः नैतिकता के विरुद्ध होती है और दूसरी आदर्श का रूप लेनेवाली प्रवृत्ति अर्थात् नैतिकता का अज्ञात अभिमान। इस भय का निराकरण दो प्रकार से हो सकता है—प्राकृतिक अर्थात् अनैतिक प्रवृत्ति की शक्ति का मार्गान्तरीकरण करके और दूसरे नैतिकता के अभिमान को कम करके। नैतिकता के अभिमान के कम होने पर मनुष्य की प्राकृतिक प्रवृत्ति अपने नग्न रूप मे चेतना की सतह पर आने लगती है। यह पहले पहल मनुष्य के स्वप्नो मे और उसकी कल्पनाओं मे आती है। पीछे वह स्पष्ट विचारों मे भी आने लगती है। रोगो के द्वारा भी दबी मानसिक प्रवृत्ति की शक्ति का खर्च हो जाता है। अतएव कभी कभी कल्पना मे प्रकाशित होने पर ही

दमित प्रवृत्ति की शक्ति क्षीण हो जाती है और मनुष्य स्वास्थ्य लाभ कर लेता है। परन्तु कभी कभी इसके लिए विशेष प्रकार के कामों में मनुष्य को अपने आपको लगाना पड़ता है। कला, संगीत और धार्मिक कार्य अथवा समाज सेवा दबी प्राकृतिक शक्ति के सदुपयोग के उपाय हैं। मनोविज्ञान का यह निश्चित सिद्धान्त है कि कोई भी मानसिक शक्ति का उदात्तीकरण तब तक नहीं होता, जबतक उसकी उपस्थिति का ज्ञान चेतना को नहीं होता और उसके आवेग का अनुभव चेतना नहीं करती। अतएव किसी भी प्रकार की दमित मानसिक शक्ति को पहले चेतना की सतह पर लाना आवश्यक है। इसके लिये अपने अचेतन मन मे उपस्थित नैतिक अभिमान को समझना अर्थात् उस प्राकृतिक शक्ति को दबानेवाली शक्ति को जानना और उस अभिमान को कम करना भी आवश्यक है।

मानसिक चिकित्सक का पहला कार्य रोगी की उस मनोवृत्ति को बदलना है जो उसकी प्राकृतिक इच्छा को चेतना की सतह पर आने से रोक रही है। लेखक के पास कई ऐसे मानसिक रोगी आते हैं जो अपने आप को आदर्श व्यक्ति बनाने की झक पकड़े हुए हैं। ये अपने आपको अनेक प्रकार की कमजोरियों से भरा मानते हैं, अतएव बड़े विनीत भाव से बात करते हैं। पर यह विनीतता का भाव पूर्णतया उनके अज्ञात अभिमान का आवरण मात्र है। दूसरे लोगों को उनके व्यवहार से धोखा हो सकता है कि वे वास्तव में अपने-आपको नगण्य व्यक्ति समझते है। वास्तव मे स्थिति ठीक उलटी है और इसका ज्ञान स्वयं रोगियों को नहीं रहता। वे अपने आप को नगण्य जन बताते हैं; परन्तु आन्तरिक मन से अपने को महान् मानते हैं। सच्चा चिकित्सक उनके इस अभिमान को हटाता है। उन्हे यह बताता है कि वह कितना खोखला है। उन्हें सच्ची नैतिकता का आधार बताना पड़ता है। इस आधार को स्वीकार कराना बड़ा कठिन काम है। जो मनुष्य अपने आप को किसी विशेष प्रकार की धारणा के कारण ऊँचा मान

चुका है, वह अपनी उक्त धारणा को कैसे छोड़ेगा। परन्तु स्नेह मे यह गुण है कि मनुष्य अपने आप को दूसरे के समक्ष खोल देता है। इससे रोगी का नैतिकता का अभिमान कम हो जाता है और फिर उसकी अनैतिक वासनायें उसकी चेतना के स्तर पर आने लगती है। पहले ये प्रतीक रूप मे आती हैं और फिर प्रत्यक्ष रूपमे आती है।

रोगी के स्वप्नों का अध्ययन उसके जीवनक्रमके परिवर्तन को जताता है। जिस रोगी का अभिमान बहुत चढ़ा बढ़ा रहता है, उसे स्वप्न ही नहीं होते। प्रारंभ मे किसी रोगी को स्वप्न नहीं हो तो पीछे स्वप्न होने लगते हैं। जैसे जैसे रोगी का मन अपने झूठी नैतिकता के अभिमान को छोड़ते जाता है, उसके स्वप्न अधिकाधिक स्पष्ट होने लगते हैं। लेखक के एक पुराने विद्यार्थी को हाल ही मे नपुंसकता का रोग हो गया था। साथ ही साथ उसे हृदय की धड़कन और मृत्यु का भय हो गया, वह विक्षिप्त भी हो जाता था। इस भय का विश्लेषण करने से पता चला कि रोगी के मन मे दबी प्रबल वासना है। वह अपनी स्त्री से असंतुष्ट था। वह संतान की संख्या को नहीं बढ़ाना चाहता था और इसीलिये कृत्रिम रूप से संतान उत्पत्ति के उपायो को काम मे लाता था। उसमे समलिंगी व्यभिचार की भी प्रवृत्ति थी। जब रोगी को बताया गया कि वह संतान उत्पत्ति से भयभीत न हो, क्योंकि सभी का पालन भगवान करते हैं, और जब उसकी कामवासना सम्बन्धी धारणा को परिवर्तित करने की चेष्टा की तो उसने समलिंगी व्यभिचार का स्वप्न देखा। इससे यह स्पष्ट है कि उसके मन मे प्रबल कामवासना थी। इस वासना का उसे ज्ञान तक न था। इस वासना को रोकने के लिये चेतन मन के स्तर के नीचे नैतिकता का अभिमान भी काम कर रहा था। अतएव प्रबल कामवासना का प्रकाशन रोकने के लिये उसने रोगी के मन मे नपुंसकता का विचार डाल दिया। इससे कामवासना का सफल अवरोध एक प्रकार से हो

गया। परन्तु अवरुद्ध वासना अब रोगी की चेतना को अलग करके भी प्रकाशित होती थी।

इस रोगी के पिता बड़े कठोर व्यक्ति हैं। जिन बालकों के माता पिता कठोर होते हैं और अपने बालकों को आज्ञाकारी बनाने में लगे रहते है, वे अपने बालकों मे नैतिकता के झूठे अभिमान को पैदा करते हैं। उनकी प्राकृतिक इच्छाये दमित होकर मानसिक रोग के रूप में प्रकाशित होती हैं। पिता के कठोर होने पर मनुष्य किसी कठोर सिद्धान्त को अपना लेता है जो पिता की अनुपस्थिति मे उसकी प्राकृतिक इच्छाओं का दमन करता है। जब तक इस आन्तरिक पिता के स्वभाव मे अर्थात् नैतिकता के अभिमान मे परिवर्तन नहीं होता और जब तक मनुष्य अपनी प्राकृतिक इच्छाओं के प्रति उदारता का भाव नहीं दिखाता तब तक उसकी चिन्ताओं अथवा मानसिक रोग का विनाश नहीं होता।

मनुष्य के प्रत्येक प्रकार के मानसिक रोग की उसके जीवन रक्षा और प्रसार मे उपयोगिता रहती है। रोग के द्वारा मनुष्य का आन्तरिक संघर्ष चेतना की सतह पर प्रतीक रूप से आता है। रोग से पारस्परिक विरोधी मानसिक शक्तियों का बल भी कम हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य की आन्तरिक बेचैनी कम हो जाती है। यह बेचैनी मनुष्य को मृत्यु का आवाहन करने के लिये बाध्य करती है। रोग को पाकर मनुष्य आन्तरिक सघर्ष के क्लेश से बच जाता है। परन्तु इस प्रकार मनुष्य की वास्तविक समस्या हल नहीं होती। रोग आध्यात्मिक समस्या को हल करने से बचने का परिणाम है। जिस संघर्ष को मनुष्य भूल जाने का प्रयत्न करता है उसका हल करके ही वह शान्ति प्राप्त कर सकता है। संघर्ष का हल आत्म-समन्वय और आत्म-विजय से होता है। यह हल चेतना की सतह पर ही हो सकता है। अतएव अचेतन मन की खोज करके प्रत्येक प्रकार के आन्तरिक द्वन्द्व को चेतना की सतह पर लाना आवश्यक है।

चौथा प्रकरण

चेतन और अचेतन मन का संबंध

आधुनिक काल की सबसे बड़ी खोज अचेतन मन की खोज है। इस खोज का श्रेय वियना नगर के मानसिक रोगों के विशेषज्ञ डाक्टर सिगमंड फ्रायड को है। जब से यह खोज हुई है तब से अचेतन मन की बनावट के तथा उसका चेतन मन के सम्बन्ध के विषय मे अनेक प्रकार की कल्पनाओं और सिद्धान्तों का जन्म हुआ। पिछले दो प्रकरणों में हमने चेतन और अचेतन मन के विरोध और अचेतन मन मे चलनेवाले संघर्ष पर प्रकाश डाला है। मानसिक आरोग्य के लिये दोनो मन के सम्बन्ध को भली प्रकार जानना नितान्त आवश्यक है।

चेतन और अचेतन मन का आपस का बड़ा घनिष्ठ संबध है। जो बात एक समय चेतन मन में रहती है वही दूसरे समय अचेतन मन का अंग बन जाती है। मनुष्य का चेतन मन नई भावनाओं अनुभूतियों और विचारों का स्थान है और मनुष्य का अचेतन मन इसमे सञ्चित संस्कारों का आगार है। हमारी इच्छाशक्ति का चेतन मन की क्रियाओं और अनुभूतियो पर ही अधिकार रहता है। इच्छाशक्ति का अचेतन मन मे उपस्थित संस्कारों पर सीधे कोई भी नियंत्रण नहीं रहता। हम चेतन मन के विचारों और भावों को तुरन्त ही बदल सकते हैं, परन्तु अचेतन मन के भावों को इस प्रकार नहीं बदला जा सकता। हम अचेतन मन की क्रियाओं को नहीं रोक सकते। वे हमारे अनजाने ही चेतना की सतह के नीचे चलती रहती हैं। इसी के कारण मनुष्य कभी कभी अपने को अनायास ही बेचैन अथवा चिन्ता-

युक्त पाता है। वह रातभर सोता है पर सबेरे उठने पर अपने आप को थका हुआ पाता है। किसी काम में वह यदि अपना मन लगाना चाहता है तो उसमें उसका मन नहीं लगता। मनुष्य नहीं जानता कि वह अपनी मानसिक बेचैनी, अशान्ति और उदासीनता को हटाने के लिये क्या करे। उसे मन के अन्तर्पटल पर चलने वाली क्रियाओं का ज्ञान ही नहीं रहता। कभी कभी अचेतन मन की भावनायें मनुष्य की इच्छाशक्ति के प्रतिकूल ही उसकी चेतना पर एकाएक आ जाती है। जब मनुष्य ऐसी स्थिति में अपने विचारों को नियन्त्रित करने की चेष्टा करता है तब वह बड़ी मानसिक कठिनाई में पड़ जाता है। इस प्रकार के नियंत्रण के प्रयास से न केवल उसका मानसिक संताप बढ़ता है वरन् कभी कभी उसमें विक्षिप्तता भी उत्पन्न हो जाती है।

अचेतन मन को प्रभावित करने और उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन करने का एक ही उपाय है—अचेतन मन को जानना और उसे प्रकाशित होने का अवसर देना। यह अचेतन मन का प्रकाशन दो प्रकार से हो सकता है—व्यवहार में अचेतन मन की भावना अथवा वासना को प्रकाशित करने से और उसके मनोवैज्ञानिक प्रकाशन से। अचेतन मन में उपस्थित वासना, स्मृति अथवा विचार दमित अवस्था में रहते है। इस दमन का ज्ञान चेतन मन को नहीं रहता। जो शक्ति इनका दमन करती है उसका ज्ञान भी मनुष्य के चेतन मन को नहीं रहता। अतएव अचेतन मन की भावना को किसी प्रकार प्रभावित करना बड़ा ही कठिन होता है। अचेतन भावना का इस प्रकार दमित रहना, जिससे कि उसका चेतन मन से संबंध ही टूट जाय, रोग मूलक होता है। जब किसी प्रकार अचेतन भावना चेतना के स्तर पर आकर क्रिया अथवा विचारों में प्रकाशित होती है तब उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है। दमन से अचेतन मन की मानसिक ग्रन्थियाँ बली होती है और उनके प्रकाशन से वे शक्तिहीन हो जाती है।

यहां दमन और आत्मनियंत्रण के मनोवैज्ञानिक भेद को समझ लेना नितांत आवश्यक है। आत्मनियत्रण मनुष्य की मानसिक शक्ति को बढाता है, इससे उसकी इच्छा शक्ति बली होती है, उसके व्यक्तित्व का विकास होता है और उसके चरित्र का निर्माण होता है। मनुष्य की स्मरण शक्ति, उसकी कल्पना, चित्त की एकाग्रता आदि सभी शक्तियां आत्म-नियंत्रण से बढ़ती है। इसके प्रतिकूल परिणाम दमन का होता है। दमन से मनुष्य की स्मृति का ह्रास होता है, उसकी चित्त की एकाग्रता जाती रहती है, उसकी इच्छा-शक्ति दुर्बल हो जाती है, उसका मन अकारण चिन्ता और भयों से भर जाता है। मनुष्य मे न तो चरित्रबल रह जाता और न व्यक्तित्व की एकता। आत्मनियंत्रण और दमन के दो प्रकार के प्रभाव इस कारण से होते हैं कि आत्मनियंत्रण मनुष्य के ज्ञात मन अर्थात् चेतन मन का कार्य है और दमन उसके अज्ञात मन अथवा अचेतन मन का कार्य है। मनुष्य आत्मनियंत्रण जानबूझ कर स्वतः के प्रयत्न से करता है और दमन अपने आप ही मनुष्य के अनजाने होते रहता है। इसके उत्पन्न करने मे मनुष्य के प्रारम्भिक जीवन के नैतिक संस्कार कार्य करते हैं। उसके वर्तमान विचारो अथवा संस्कारो का दमन की क्रिया में बहुत कम हाथ रहता है। मनुष्य यदि अपनी मानसिक ग्रन्थियो को एकाएक समाप्त करना चाहे तो यह उसके वश की बात नहीं है।

हम अपने अचेतन मन को एक प्रकार से अवश्य प्रभावित कर सकते हैं। हम जो कुछ सोचते समझते और अनुभव करते हैं वही एक समय चेतन मन से अचेतन मन मे चला जाता है। मनुष्य के मन मे आनेवाला कोई भी विचार अथवा भाव उसकी कोई भी क्रिया उसके मनपर स्थायी संस्कार छोड़े बिना नहीं जाते। यह संस्कार कुछ समय पश्चात् अचेतन मन की वस्तु बन जाते है और जब ये चेतना के स्तर से नीचे जाकर अचेतन मन मे पहुँचते है तब अचेतन मन के सस्कारों मे, भावों और विचारो मे नई उथल-पुथल कर देते हैं। वे उन्हे धीरे-धीरे बदलने मे समर्थ होते हैं।

जब एक बार अचेतन संस्कारों का निर्माण हो जाता है तब उनपर हमारी इच्छाशक्ति का अधिकार भले ही न रहे, परन्तु उनके निर्मित होने की अवस्था मे हमारा उनपर अवश्य अधिकार रहता है। यदि हम चाहे तो अपने अचेतन मन मे इस प्रकार के विचारो और भावो को एकत्र ही न होने दे जो आगे चलकर हमारी मानसिक स्वतन्त्रता का अपहरण कर लेते हैं और हमारे व्यक्तित्व को विभाजित कर देते हैं। माता पिता बच्चों को सावधानी से रखकर उनमे ऐसी जटिल मानसिक ग्रन्थियो का बनना रोक सकते है, जो आगे चलकर उनकी प्रगति मे बाधक बनती है। भगवान् बुद्ध ने प्रत्येक मानव को सदा जागरुक रहने का उपदेश दिया है। यह सम्यक् स्मृति का अभ्यास है। भगवान् बुद्ध का कथन है कि जिस प्रकार धनी व्यक्ति अपने दरवाजे के सामने एक प्रहरी खड़ा कर देता है, जिसका यह कर्तव्य होता है कि बिना पूछ-ताछ किये हुए किसी भी आगन्तुक को वह घर में न घुसने दे, इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को अपने मन-मन्दिर के द्वार पर एक प्रहरी खड़ा करना आवश्यक है; जो मन मे प्रवेश करने वाले प्रत्येक विचार की छान-बीन करे और उसी विचार को प्रवेश पाने दे अथवा ठहरने दे जो उसके व्यक्तित्व के लिए हितकारी हैं और जिसके कारण उसकी क्षति होने की कोई सम्भावना नही है। हमारी इस प्रकार की सतर्कता मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य और प्रसन्नता के लिए नितान्त आवश्यक है।

मनुष्य के विचार ही उसकी मौलिक शक्तिया है। किसी विचार के बार-बार मन में आने से मनुष्य का स्वभाव उस विचार के अनुरूप परिवर्तित हो जाता है। विचार क्रिया के जनक होते हैं, वे मनुष्य के समस्त जीवन को विशेष ओर मोड़ देते हैं। अतएव यदि कोई व्यक्ति पवित्र और महान् विचारो के वातावरण मे रहता है तो वह अपने जीवन को ही महान बना लेता है। प्रत्येक विचार शक्ति है। यह शक्ति प्रति दिन के एकसे ही चिन्तन से बढ़ती जाती है। फिर यही शक्ति महान कार्यों मे परिणत

हो जाती है। हम जो कुछ अपने आचरण मे करना नहीं चाहते उसके विषय में हमें सोचना भी उचित नहीं है। बार बार किसी बात के सोचने से वह बात अचेतन मन मे चली जाती है। और फिर मनुष्य की क्रिया तदनुसार उसकी इच्छा के विरुद्ध ही हो जाती है। मनुष्य की किसी विशेष प्रकार की रुचि का आधार उसका अचेतन मन है। जब कोई भावना अचेतन मन का अंग बन जाती है, तब वह सहज रूप से ही क्रिया में प्रकाशित हो जाती है। अतएव यदि कोई मनुष्य अपने समस्त आचार-व्यवहार आदि का स्तर ऊँचा करना चाहता तो उसे अपने प्रति क्षण के विचारो को नियंत्रित रखना पड़ेगा और उन्हे ऊँचे स्तर का बनाना होगा। ये विचार जब आन्तरिक मन मे प्रवेश कर जाते हैं तब मनुष्य के स्वभाव को परिवर्तित कर देते हैं।

स्वामी रामतीर्थ का उपदेश है कि प्रत्येक मनुष्य को संसार के महान् पुरुषों की वाणी का संग्रह रखना चाहिये और प्रति दिन उनके विचारों पर मनन करना चाहिये। मनुष्य जब अपनी सहजावस्था में किसी भले विचार को बार बार सोचता है तो वह विचार उसके चेतन मन से अचेतन मन मे चला जाता है। संसार की बड़ी बड़ी कृतियों का निर्माण सहजावस्था मे सोचे हुए विचारों का परिणाम है। एक कवि बहते हुए झरने को देखता है। वह उसकी निर्मलता, क्रियाशीलता और सौंदर्य से प्रभावित होता है। उसके मन मे उच्च विचार उस समय आते हैं। कुछ समय के पश्चात् ये विचार अदृश्य जगत मे लुप्त हो जाते हैं। परन्तु कालान्तर यही विचार सुन्दर कविता के रूप मे प्रकट हो जाते हैं। भूले हुए, भले विचार भी इस तरह हमारे जीवन को प्रभावित करते हैं। कविता की स्फूर्ति उन पुराने संस्कारों पर निर्भर करती है, जो विशेष प्रकार के अनुभव के होने पर व्यक्ति के अचेतन मन मे संचित हो जाते हैं।

किसी विचार पर बार बार चिन्तन करने से वह विशेष प्रकार के भावों को उत्पन्न करता है। मनुष्य की क्रिया के प्रेरक वास्तव में विचार

नहीं, भाव ही होते हैं। विचार मस्तिक की वस्तु है और भाव हृदय की वस्तु है। जब कोई विचार हृदय को भी प्रभावित करता है, तभी वह क्रिया का जनक होता है। जो मनुष्य बार बार भले विचारो को ही अपने मन मे लाता है वह अपने अनजाने ही अपने सम्पूर्ण जीवन को सुधार लेता है। इससे वह न केवल अपनी मानसिक प्रसन्नता को बढ़ाता है, वरन् अपने स्वास्थ्य को भी सुधार लेता है।

प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन को सफल बनाने के लिये अपने चेतन मन के चिन्तन को नियत्रित करके रखना चाहिए। मानव जीवन के अन्तिम उद्देश्य को ध्यान मे रखते हुए मनुष्य को अपने विचारों को संचालित करना चाहिए। हमारे जीवन के जो कुछ मौलिक सिद्धान्त हो उन्हीं के अनुकूल हमारा प्रतिक्षण का चिन्तन भी हो। भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों को सम्यक् व्यायाम का अभ्यास करने की सलाह दी है। यह संसार के भले विचारों को मनन करने का अभ्यास है। इससे मनुष्य बुरे विचारो के झकोरो से अपने आप बच जाता है।

मनुष्य यदि चाहे तो अपने विचारों को वश में कर सकता है। इस प्रकार की क्षमता मानवता का अनिवार्य अंग है, जो मनुष्य विचारों के नियंत्रण करने की सामर्थ्य मे विश्वास करता है वही विचारों पर नियंत्रण प्राप्त कर सकता है। प्रारम्भ मे विचारों पर नियंत्रण कठिन होता है। परन्तु धीरे धीरे मनुष्य मे यह क्षमता आ जाती है कि वह अपने विचार को जहाँ चाहे वहाँ रोके। मनुष्य के चेतन मन के विचार कभी उसके वातावरण से प्रभावित होते हैं और कभी उसके अचेतन मन में संचित मानसिक सस्कारों से। इस प्रकार मनुष्य अपने आप को बहुत दूर तक परतंत्र पाता है। परन्तु वह सतत प्रयत्न करने पर न केवल आन्तरिक मन के संस्कारों को बदल देता है, वरन् ऐसे अनुकूल वातावरण को भी अपने आप के समक्ष उपस्थित कर लेता है

जिससे वह उपयोगी विचार मन मे ला सके। हम जितना ही अपने विचारो के नियन्त्रण का प्रयत्न करते हैं और सफलता पाते हैं, उतना ही हमारा इस कार्य मे आत्म-विश्वास बढ़ता जाता है। जैसे जैसे हमारा आत्मविश्वास बढ़ता है वैसे वैसे हमारे विचार अधिकाधिक हमारे नियंत्रण मे आते जाते हैं। विचारो पर नियंत्रण प्राप्त करना मानव जीवन का सर्वोच्च पुरुषार्थ है। जो मनुष्य अपने विचारो पर नियंत्रण प्राप्त कर लेता है वह अपने आचरण और जीवन धारा पर भी नियंत्रण प्राप्त कर लेता है।

आधुनिक मनोविज्ञान के अध्ययन से कभी कभी मनुष्य इस निर्णय पर आने लगता है कि वह परिस्थितियों का दास है। वह अचेतन मन के प्रतिकूल कार्य नहीं कर सकता। यह अचेतन मन ऐसे संस्कारों का बना है जिनके ऊपर उसका कोई वश नहीं। मनुष्य के बहुत से प्रभावकारी संस्कार उसकी बाल्यावस्था मे ही उनके मन मे पड़ जाते है। माता पिता और दूसरे सबंधियों का इन संस्कारों के बनने मे हाथ भले ही हो, स्वयं उस व्यक्ति का उनके बनने मे कोई हाथ नहीं रहता। ये बचपन के संस्कार ही मनुष्य की स्थायी सामग्री बन जाते है। ये उसकी विशेष प्रकार की रुचियों का निर्माण करते है और उसके आचार, व्यवहार और क्रिया कलापों को विशेष ओर मोड़ते है। यदि इस प्रकार देखा जाय तो मनुष्य अपने आप को ऐसी शक्तियों का दास पाता है जिनके ऊपर उसका कोई अधिकार नहीं। जिसके बचपन के संस्कार अच्छे हों, वह भलाई की ओर प्रयत्नशील होता है, और जिसके संस्कार भले नही है वह बुराई की ओर जाता है।

मनोविज्ञान का उक्त कथन नियतवादी है। यह मनुष्य को निराशा की ओर ले जाता है। इस प्रकार का मनोविज्ञान जड़वादी मनोवृत्ति का परिणाम है। आधुनिक काल मे इस जड़वादी मनोविज्ञान के अतिरिक्त चेतनवादी मनोविज्ञान की भी सृष्टि हो रही है। इसके कथना-

नुसार मनुष्य की आत्मा अन्ततोगत्वा स्वतंत्र है। उसकी इच्छाशक्ति जब जगत मे कार्य करती है तब भौलिक नियमो के अनुसार चलती है और उसे उसके प्रतिबंधो को मानना पड़ता है। परन्तु वह अपने अन्तिम तत्व मे देश और काल की सीमाओं से परे है और किसी विशेष ओर प्रगति करने के लिये स्वतंत्र है। इच्छाशक्ति के इस स्वतंत्रता के क्षेत्र में विज्ञान की पहुँच नहीं है, यह दर्शन का क्षेत्र है। अतएव किसी वैज्ञानिक के लिये यह कल्पना करना असम्भव है कि मानव की इच्छा-शक्ति बाहरी वातावरण से अथवा उसके संस्कारों से स्वतत्र हो सकती है। परन्तु मनुष्य को इस प्रकार की स्वतत्रता न होती तो उसे किसी प्रकार का सदुपदेश देना व्यर्थ होता। किसी प्रकार के सदुपदेश की सार्थकता इसी बात मे निहित है कि मनुष्य उन उपदेशो के अनुसार अपना आचरण और व्यवहार करने के लिये स्वतत्र है। मनुष्य की अन्तिम आध्यात्मिक स्वतंत्रता के अभाव मे नैतिकता अर्थहीन हो जाती है।

कान्ट महाशय का कथन है कि प्रत्येक मनुष्य स्वनिर्मित प्राणी है, जगत के दूसरे प्राणियो का निर्माण अपने से अतिरिक्त दूसरे से होता है। परन्तु मनुष्य अपने आप का स्वतः ही निर्माण करता है। ममुष्य के स्वभाव के दो अग है, एक भौतिक, दूसरा आध्यात्मिक। अपने भौतिक स्वभाव में मनुष्य दूसरों जैसा ही है, अर्थात् वह प्राकृतिक नियमों के बधन मे दूसरों के द्वारा पैदा और पोषित किया जाता है। परन्तु जहाँ तक उसके आध्यात्मिक जीवन की बात है, वह अपने ज्ञान की ज्योति स्वयं जलाता है और अपने प्रयत्न से ही इस ज्योति की वृद्धि करता है। मानवीय स्वतन्त्रता इसी ज्ञान ज्योति का परिणाम है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपने को भला और बुरा बनाने के लिये स्वतंत्र है। वह अपनी स्वतंत्र इच्छाशक्ति से अपनी आदत और चरित्र का निर्माण करता है। वह अपने प्रयत्न से ही अपनी ग्रन्थियो

को और अचेतन मन के अभद्र सस्कारों को समाप्त कर दे सकता है। जैसे जैसे मनुष्य अपने मैं ज्ञान ज्योति को जलाता है वैसे वैसे उसकी मानसिक ग्रन्थियाँ अपने आप ही ढीली हो जाती हैं अथवा समाप्त हो जाती हैं।

मनुष्य का चेतन मन कैमरा के मुख के समान है। यह अनेक प्रकार के संस्कारों को ग्रहण करता है और उनका अचेतन मन में संचय होता है। अचेतन मन उस अंधकार मय कोठरी के समान है जिसमे बाहरी पदार्थ के चित्र संचित होते है। यह सब क्रिया तभी तक होती है जब तक कि मनुष्य के आत्मा का प्रकाश बाहर की ओर जा रहा है। जब मनुष्य अन्तर्मुखी बन जाता है और आत्मा के प्रकाश को बाहर जाने देने के बदले वह उसे अचेतन मन की अंधकारमयी कोठरी की ओर मोड़ दिया जाता है तब न केवल नये अनुभवों के संस्कारों का संचित होना असम्भव हो जाता है वरन् पुराने अनुभवो के सस्कार भी अचेतन मन की फोटोग्राफिक प्लेट मे धुंधले हो जाते हैं अथवा समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार प्रतिदिन के आध्यात्मिक चिंतन से मनुष्य अपने अचेतन मन के बंधन से मुक्त हो जाता है।

किसी ममुष्य का यह कहना कि हम अपने विचारों को वश में नहीं कर सकते हैं क्योंकि ये अचेतन मन के द्वारा प्रभावित होते रहते है, अपने आप को धोखा देना है। जो मनुष्य अपने विचारों पर नियत्रण प्राप्त करने की चेष्टा करता है वह इस कार्य मे अवश्य सफलता पाता है। निकम्मे लोग अपनी कठिनाइयों को सदा बढ़ा चढ़ाकर कहते हैं जिससे उन्हे किसी काम मे असफल होने के कारण आत्मग्लानि न करना पड़े। परन्तु वे इस प्रकार अपनी परिस्थितियों पर विजय प्राप्त नहीं करते। ऐसे व्यक्ति अपने भाग्य को सदा कोसते रहते हैं और सदा मानसिक क्लेश का अनुभव करते रहते हैं। मनुष्य को परतन्त्रता के अनुभव मे कभी भी सुख नहीं होता। उसे स्वतंत्रता

की अनुभूति मे ही सुख होता है। मनुष्य अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व का नवनिर्माण कर सकता है। वह अपने प्रयास से न केवल अपने अचेतन मन के संस्कारों को समाप्त कर सकता है वरन् अपने शरीर मे चमत्कारिक परिवर्तन कर सकता है। मनुष्य का अचेतन मन कोई सदा के लिये स्थिर वस्तु नहीं, वह परिवर्तनशील है। पुरुषार्थी मनुष्य वह है जो इस मन की शक्ति से अधिक से अधिक लाभ उठाने की चेष्टा करता है। मनुष्य के व्यक्तित्व मे चाहे कितनी ही कमिया क्यों न हों, उसके चरित्र मे चाहे कितने दुर्गुण क्यो न हों वह सतत प्रयत्न के द्वारा अपने आप का नवनिर्माण कर सकता है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि मनुष्य के विचारों मे अद्भुत शक्ति है। अपने कलुषित विचारों के कारण यदि कोई मनुष्य मानसिक ग्रन्थियों द्वारा त्रस्त हो रहा है और अनेक प्रकार के रोगों का आगार बन गया है तो वह नये प्रयत्न द्वारा इन रोगों से मुक्त भी हो सकता है। आवश्यकता यहा इस बात की है कि मनुष्य अपने आपको भली प्रकार से समझने की चेष्टा करे, अपने चेतन और अचेतन मन के संबंध को ठीक से जाने और आत्म सुधार में प्राकृतिक नियम की अवहेलना न करते हुए आत्मनिर्माण की चेष्टा करे।

साधारण मनुष्य के चेतन और अचेतन मन मे अधिकतर एकता ही रहती है। इसी एकता के कारण मनुष्य अपने कामों में सफलता प्राप्त करता है। चेतन मन की कार्यक्षमता की शक्ति वास्तव मे उनके अचेतन मन से आती है। जब मनुष्य का अचेतन मन उसके चेतन मन का विरोध करता है तब मनुष्य से अनेक प्रकार की भूलें होने लगती है, उसके विचार उसके नियंत्रण मे नहीं रहते, उसके निश्चय सदा चलायमान रहते है, वह सदा मानसिक बेचैनी, अकारण चिन्ता भय और निराशा का अनुभव करते रहता है। ऐसी ही अवस्था मे मनुष्य को अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते

है। एक बार चेतन और अचेतन मे विरोध उत्पन्न हो जाने पर मनुष्य का अचेतन मन चेतन मन की इच्छा के प्रतिकूल कार्य करता और मनुष्य को जटिल परिस्थितियो मे डाल देता है। फिर मनुष्य की सद्भावनायें और शुभकांक्षायें ही उसे मानसिक शान्ति न देकर अनेक प्रकार की आत्मग्लानि उत्पन्न करती हैं और उसकी इच्छाशक्ति को बली न बना कर उसे निकम्मा बना देती हैं। मानसिक रोग के भागी प्रायः वे लोग होते हैं जिनके चेतन मन में उच्च आदर्श हैं; परन्तु जिनके मन के अन्तःपटल मे अनेक प्रकार की भोगवासनावें दमित अवस्था मे पड़ी हुई है। जिन व्योक्तियो की सामान्य प्राकृतिक इच्छाओं की तृप्ति नही होती, उनकी वासनाओ का विकास न होकर वे विकृत रूप धारण कर लेती है। फिर ये वासनाये मनुष्य के जीवन की सफलता में अनेक प्रकार की बाधाये उत्पन्न करती है। ये ही वासनाये शारीरिक अथवा मानसिक रोग बन जाती है। इस प्रकार के रोगो की उत्पत्ति रोकने के लिये, तथा एक बार रोग के पैदा हो जाने पर उसके निराकरण के लिये, मनुष्य के चेतन और अचेतन मन मे समन्वय और समरसता स्थापित करना नितांत आवश्यक है। मनुष्य का शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य उसके अचेतन मन पर निर्भर करता है। जब चेतन और अचेतन मन में साम्य रहता है तो चेतन मन की स्वस्थ्य भावनाये जैसी की तैसी अचेतन मन मे चली जाती है और वे उसका आत्मनिर्देश बनकर मनुष्य के आरोग्य प्राप्ति मे सहायक होती है।

—:o:—

छठवां प्रकरण

मनोजात शारीरिक रोग

जैसे जैसे मनोविज्ञान का प्रसार हो रहा है, हम इस बात को समझते जा रहे हैं कि मनुष्य के बहुत से शारीरिक रोगों के मानसिक कारण होते हैं। अपने रोग का वास्तविक कारण न जानने से रोग का उपचार ठीक से नहीं हो पाता। कितने ही रोगी वर्षों अपने शारीरिक रोगो का उपचार कराते रहते है, परन्तु जैसे जैसे उनके रोगो का उपचार होता जाता है, रोग घटने की अपेक्षा बढ़ते ही जाते है। यदि एक प्रकार का रोग समाप्त हो जाय तो झट दूसरे प्रकार का रोग उत्पन्न हो जाता है, अर्थात् रोग का रूपान्तरण हो जाता हैं। इस प्रकार इक्जिमा का रोग दमा, क्षय अथवा आँख के रोग मे परिणत हो जाता है। पेट का रोग कभी कभी स्वास का रोग बन जाता है।

कभी कभी विशेष उपचार के परिणामस्वरूप रोग का वास्तविक कारण जाने बिना इन बाहरी रोगो की समाप्ति हो जाती है। ऐसी अवस्था मे रोगी को जो मानसिक वेदना होती है, वह असह्य होती है। इस वेदना से वह इतना परेशान हो जाता है कि वह मृत्यु तक का आवाहन करने लगता है। रोगी स्वयं मानसिक वेदना, घबराहट, अशान्ति का अनुभव करता है, परन्तु न वह उसका कारण जानता है और न उसके रोकने के उपाय को ही जानता है। ऐसे रोगी को जब कोई शारीरिक रोग पुनः त्रास देने लगता है, तब उसे मानसिक क्लेश से थोड़ा आराम मिल जाता है। इस प्रकार शारीरिक रोग मनुष्य को मानसिक क्लेश से बचाता है और वह उसे जीवन प्रदान करने में सहायक होता है। यदि किसी मानसिक रोगी का शारीरिक रोग उससे

एकाएक छिना लिया जाय तो उसे इतनी घबड़ाहट होगी कि उसका जीना असम्भव हो जायगा।

पेट का रोग

जिन शारीरिक रोगों का प्रधानतः कारण मानसिक है, उनमे एक पेट की पीड़ा भी है। जब मनुष्य के मनोभावों मे अनेक प्रकार की उथल-पुथल होती है और उसे इस मानसिक वेदना को बरबस भुलाने की चेष्टा करनी पड़ती है, तब उसे किसी न किसी प्रकार का शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार के रोगों मे पेट का रोग है। प्रेम की भूख पेट की असह्य पीड़ा बन जाती है। अपने पहले के स्नेही के प्रति अत्यधिक घृणा के विचार पेट के फोड़े बन जाते हैं। अपने पहले के विश्वासपात्र व्यक्ति के प्रति बार बार सदेह होना अतिसार का रूप धारण कर लेता है। दूसरे व्यक्ति के विषय मे घृणास्पद विचार मन मे बारबार लाने से घृणास्पद रोग उत्पन्न हो जाता है। दमित भय का भाव, अर्थात् वह भय जिसे रोगी स्वीकार नहीं करता, डाइरिया का रोग पैदा करता है। इसी प्रकार दूसरे भी पेट के रोग मनोभावों के दमन से हो जाते हैं।

पेट के फोड़े के विषय मे वियना नगर के प्रसिद्ध मनोविश्लेषक डा० विलियम स्टैकिल अपनी "टैक्नीक आफ एनॉलेटिक साइकोथ्रेपी" नामक पुस्तक मे लिखते हैं, 'मैने अभी तक एक भी ऐसे पेट के फोड़े के रोगी को नहीं देखा जिसके रोग का एक प्रमुख कारण मानसिक अन्तर्द्वन्द्व न रहा हो।" स्टैकिल महाशय लिखते है, "पेट के फोड़े का प्रारम्भिक कारण दुःख और निराशा होता है। इससे सारे शरीर के कोष्टों पर, उसके स्नायुओं और मांसपेशियों पर असर पड़ता है, शरीर का तापक्रम घट जाता है, रक्त मे क्षारीय द्रव्य की कमी हो जाती है, प्राणप्रद रसो का उत्पादन कम हो जाता है और शरीर की चेतनता में कमी हो जाती है। इससे शारीरिक रोग उत्पन्न होने की स्थिति आ जाती है।" जब मन में विषैले विचारो का प्रवाह चल पड़ता है तो ये विचार शारीरिक

विष को भी उत्पन्न कर देते हैं। यह विष रुधिर मे मिलकर पेट के फोड़े के रूप मे प्रकट होता है। मनुष्य के संवेग और उसकी शारीरिक क्रियाओं मे बड़ा घनिष्ठ संबंध है। प्रेम, श्रद्धा, उल्लास, कौतूहल, आश्चर्य आदि मनोभाव (संवेग) जीवनदायी रसो का उत्पादन करते हैं। जो व्यक्ति इस प्रकार के मनोभावों का बार बार अनुभव करता है, उसका न केवल मानसिक स्वास्थ्य, वरन् शारीरिक स्वास्थ्य भी दिन प्रतिदिन बढ़ता जाता है। इसके प्रतिकूल जो व्यक्ति भय, क्रोध, ईर्षा, आत्मग्लानि और निराशा के भावो का बार बार अनुभव करता है, वह किसी घातक शारीरिक रोग का शिकार बन जाता है। ऐसे भावों का अनुभव करते समय शरीर में उन रसों का उत्पादन होता है, जो उसे थोड़े समय मे उत्तेजित अवस्था मे बना देते हैं, परन्तु पीछे उसके स्नायुओं की भारी क्षति कर देते हैं, और इस प्रकार शरीर को दुर्बल बना देते हैं। ये मनोभाव ऐसे शारीरिक विषों को भी उत्पन्न करते हैं जो फोड़े, फुन्सी आदि के रूप मे बाहर निकलते हैं। इन्हीं विषों के संग्रह हो जाने पर पेट के फोड़े उत्पन्न हो जाते है। ऐसे रोगी जब अपने कलुषित मनोभावो को न त्याग कर अपने शरीर का किसी प्रकार उपचार कराते हैं तब उन्हे केवल तत्कालीन लाभ होता है। परन्तु रोग जड़ से नहीं जाता, वह और भी प्रबल बनकर बाहर आता है।

एक बार वियना निवासी डा० स्टैकिल महाशय अपनी चिकित्सा के कार्य के लिये अमेरिका के शिकागो नगर मे गये थे। उस समय एक बत्तीस वर्ष का युवक जो रत्नों का व्यापारी था, उनके पास एक नया विवाह करने के लिये परामर्श लेने आया। उसने अपनी पहली स्त्री को व्यभिचार के सन्देह मे तलाक दे दिया था। उसकी दुकान पर एक सुन्दर युवती टाइपिस्ट का कार्य करती थी। इस व्यापारी का इस युवती से प्रेम बढ़ गया। यह महिला इस व्यक्ति के गुणो से बहुत प्रभावित थी। परन्तु वह हृदय से उसे प्यार नहीं

करती थी। व्यापारी देखने में रुपवान नहीं था और वह उसी धर्म का भी न था, जिसकी वह महिला थी। व्यापारी यहूदी था और स्त्री कैथोलिक। इस व्यापारी ने उक्त युवती को अपने पति से तलाक देने को उकसाया और उसकी सहायता से महिला ने तलाक भी दे दिया। इसी समय उसने स्टैकिल महाशय से नई शादी की सलाह माँगी। स्टैकिल महाशय ने व्यापारी को विवाह की सलाह नहीं दी। स्टैकिल महाशय सोचते थे कि इस व्यक्ति की किसी न किसी कारणवश उक्त महिला से अनबन हो जायगी और व्यापारी को इस विवाह से क्लेश ही होगा। परन्तु स्टैकिल महाशय की सलाह के विरुद्ध भी व्यापारी ने उक्त युवती से विवाह कर ही डाला।

विवाह के दो वर्ष पश्चात् यही व्यक्ति अपनी स्त्री के हिस्टिरिया रोग की चिकित्सा के लिये स्टैकिल महाशय के पास अमेरिका से वियना पहुँचा। उस स्त्री के मानसिक भावों के अध्ययन से पता चला कि वह उक्त व्यापारी को मन से प्यार नहीं करती थी और यही उसके रोग का प्रधान कारण था। वह मन ही मन उस व्यापारी से पृथक हो जाना चाहती थी। इस व्यापारी ने इस युवती को उसके प्रेम में आकर अपना सब पैसा दे डाला था। अब यह स्त्री उससे हट जाना चाहती थी। स्टैकिल महाशय के पास से चले जाने पर इस व्यापारी ने अपनी स्त्री की चिकित्सा के लिये उसे अकेले ही पेरिस नगर में छोड़ दिया था। यहां उसका प्रेम एक रुपवान अमेरिकन नवयुवक से हो गया। वह स्वयं अमेरिकन तो थी ही। अब यह युवती अपने पति को तलाक देने की इच्छुक हो गई। पति ने भी अपनी स्त्री की मानसिक स्थिति को समझ लिया और उसने उसके तलाक देने पर अधिक आपत्ति न की। उसने अपने मन में सोचा कि मैं ऐसी स्त्री को बंधन में क्यों रखूँ, जो मुझ से मुक्त होना चाहती है। परन्तु उसका यह विचार ऊपरी मन का ही विचार था। वह आन्तरिक मन से भारी दुःखी था।

उक्त व्यापारी ने इस युवती के वश मे आकर उसे अपना सभी रुपया पैसा दे डाला था और अब वह गरीब बन गया था। इस समय उसे नपुंसकता का रोग उत्पन्न हो गया था और वह इसकी चिकित्सा मे लगा हुआ था*। इसी बीच उसका ध्यान एक दूसरी नवयुवती पर आकर्षित हुआ। उसके मन मे अब अनेक प्रकार की उथल-पुथल हो रही थी। इस समय उक्त रोगी को भारी पेट की पीड़ा हुई और उसे अतिसार का रोग हो गया। व्यापारी ने अपने पेट की परीक्षा पेट के रोग के विशेषज्ञ के द्वारा करायी। इसके परिणामस्वरूप ज्ञात हुआ कि रोगी के पेट में एक बड़ा फोड़ा हो गया है। रोगी ने अपने पेट के फोड़े का आपरेशन कराया। इस आपरेशन के परिणाम-स्वरूप उसका पेट का रोग कुछ समय के लिये समाप्त हो गया, पर पूरी तरह आराम न मिला। इस रोगी को दो बार पुनः पेट का आपरेशन कराना पड़ा। यह रोगी अपने मानसिक उपचार के लिये स्टैकिल महाशय के पास आता था। स्टैकिल महाशय ने देखा कि रोगी को हर समय पेट की पीड़ा होती रहती है, रन्तु वह अपनी इस पीड़ा को मनोविश्लेषण के समय भूल जाता है। यह रोगी अपने सच्चे मनोभावों को स्टैकिल महाशय के समक्ष प्रकट न कर पाया और अपनी तलाक दी हुई स्त्री के प्रति उसके घृणा के भाव ज्यो के त्यो बने रहे। इसके परिणाम-स्वरूप रोगी को न तो शारीरिक उपचार से और न मानसिक उपचार से कोई लाभ हुआ और इसी रोग से कई दिनों तक पीड़ित रहकर उसने अपनी जीवन यात्रा समाप्त कर दी।

---

* अपनी पुरानी प्रेमिका से तीव्र घृणा हो जाने पर मनुष्य को नपुंसकता का रोग हो जाता है। अपने आप से घृणा होने पर तथा तीव्र आत्मग्लानि की अनुभूति होने पर भी यह रोग होता है। इसी कारण व्यभिचार से कभी-कभी नपुंसकता होती है।

पेट के फोडे के मानसिक रोगी अपने रोग का वास्तविक कारण नहीं जानना चाहते। यदि कोई व्यक्ति उन्हे बतावे कि उनके रोग का कारण मानसिक है तो वे ऐसे व्यक्ति के विचार को कोरी कल्पना मानते हैं। उक्त व्यापारी अपने सच्चे मनोभावों को अपने मित्रों से सदा छिपाये रखना चाहता था। जब कभी यह व्यापारी अपनी इस स्त्री के विषय मे अपने मित्रो से बात-चीत करता था तो वह तलाक से प्रसन्नता ही प्रकट करता था, परन्तु उसका हृदय दुःखी था। मनुष्य का अभिमान उसे सत्य को न केवल दूसरो से छिपाने को वाध्य करता है वरन् अपने आप से भी छिपाने के लिये वह उसे वाध्य करता है। मनुष्य को रोग उसके मन में उपस्थित गुप्त भावों को प्रकाश मे लाने के लिये होते है। पेट की पीड़ा का अर्थ है कि मनुष्य के आन्तरिक मन मे कोई ऐसा भाव आ गया है, जिसे वह वरवश छिपा रहा है और यह बात उसके पेट से बाहर निकलना चाहती है। जब कोई मनुष्य अपने जहरीले विचारों को अपने मन मे स्थान देता है तब ये जहरीले विचार पेट का फोड़ा बन जाते हैं। जहरीला विचार तब तक रोग का रूप धारण नहीं करता जब तक कि उस व्यक्ति को वह स्मृत रहता है। जब यह विचार उसकी चेतना के परे चला जाता है और उसके अचेतन मन मे घर कर लेता है तभी वह पेट का फोडा बन जाता है। ऐसा रोगी अपने रोग के वास्तविक कारण को नहीं जानता। जब कभी रोगी को इस दबे हुए विचार की ओर सुझाव दिया जाता है तब वह सुझाने वाले व्यक्ति से अलग होने की चेष्टा करता है और जब तक सत्य को इस प्रकार दृष्टि से ओझल करने की उसकी प्रवृति बनी रहती है तब तक उसका रोग समाप्त नहीं होता। इस प्रकार के रोग से मुक्त होने के लिये प्रथम आवश्यकता यह है कि रोगी अपने विषैले विचार को पहचाने, फिर वह इस विचार को मानसिक शैथिलीकरण और मैत्री भावना के अभ्यास द्वारा अपने मन से बाहर निकाले और उसके बदले मे शुभ विचारों को अपने मन मे दृढ़ता से धारण करे।

अमैत्री भावनाजन्य दूसरे सस्कारों का परिहार मैत्री भावना के अभ्यास से होता है। अतएव मैत्रीभावना के अभ्यास से पेट के रोगी को अवश्य लाभ होता है, परन्तु यह अभ्यास तभी सफल होता है जब मनुष्य के आन्तरिक मन के दमित विचार उसकी चेतना के सतह पर आ जाते हैं और वह आत्म-स्वीकृति द्वारा इन विचारों को बदलने को चेष्टा करता है। बहुत से व्यक्ति ऊपर से सुशील और विनीत दिखाई देते हैं। वे अपने ज्ञात मन से नित्य प्रति इन भावो का अभ्यास करने की चेष्टा करते हैं, परन्तु इससे उनके रोग मे कमी नहीं होती, अपितु रोग बढ़ता ही जाता है। रोगी मनुष्य के चेतन मन के सद्भाव उसके अचेतन मन मे उपस्थित दुर्भाव के ऊपर आवरण डालते हैं। वे रोगी को आत्म-स्वीकृति करने से रोकते हैं। अतएव रोगी मनुष्य का अत्यधिक विनयशील दिखाई देना उसके रोग को बढ़ाता हैं। जब रोगी के दबे मनोभाव चेतना की सतह पर आते है तब प्रारम्भ मे रोगी का आचरण ऊपरी विचार की दृष्टि से सुधरने के बदले विगड़ते हुए दिखाई देता है, उसका नैतिक स्तर ऊँचा न उठकर नीचा गिरते दिखाई देता है; परन्तु उसका इस प्रकार का परिवर्तन उसके आन्तरिक मन मे उपस्थित वस्तुस्थित का परिचायक है। यह रोग के विनाश के लिये प्रारम्भिक आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति के पश्चात् ही रोगी का सद्भाव, मैत्रीभाव, दानशीलता, विनयशीलता, अथवा सौजन्यता का अभ्यास लाभकारी सिद्ध होता है। जिस व्यक्ति के भीतरी मन मे विषैले विचार रूपी विष दमित अवस्था में उपस्थित रहता है, उसकी विनयशीलता, सौजन्यता, मैत्री भावना ढोंग के रूप मे रहती है। इन भावों के अभ्यास से उनका केवल अभिमान ही बढ़ता है। जो व्यक्ति दूसरों के प्रति आवश्यकता से अधिक विनयशील होता है, वह आन्तरिक मन से अपने आचरण द्वारा दूसरों के प्रति अपनी महानता सिद्ध करने की चेष्टा और अपनी कमियों को छिपाने का प्रयत्न करता है। यह एक प्रकार का आत्म-प्रवंचन है। इस प्रकार

के आत्म-प्रवंचन के कारण ही मनुष्य को अनेक प्रकार के रोग होते हैं। यह रोग दण्ड के रूप में आते हैं और मनुष्य के मन की वास्तविक स्थिति को स्पष्ट कर देते हैं। जब तक मनुष्य सरल चित्त बनकर नहीं रहता और जबतक उसके मन में किसी प्रकार की ग्रन्थियाँ छिपी हुई हैं, उसका सद्‌गुणों का अभ्यास रोग विनाशक न होकर रोगवर्द्धक ही होता है।

आधुनिक काल के मनोविश्लेषक विद्वानों ने पेट के रोग के विषय में जो अनुभव मानसिक चिकित्सा के द्वारा प्राप्त किये है, उनका समर्थन मनोविज्ञानशाला मे आये हुये पेट के रोगियों की जीवनचर्चा और उनके रोग के उपचार से होता है। किसी प्रकार की प्रबल भावना पेट के रोग को जन्म दे सकती है। इसके विषय मे हमारे अनुभव मे आये हुये निम्न-लिखित रोगियों के वृतांत उल्लेखनीय हैं।

आज से कुछ दिन पूर्व स्थानीय इन्टरमिडिएट कालेज के एक विद्यार्थी को असाध्य पेट की पीड़ा हो गई थी। उस समय इस विद्यार्थी की अवस्था १८ वर्ष की थी। इस रोग से मुक्त होने के लिये उसने अनेक प्रकार के उपचार कराये। ये उपचार दो वर्ष तक चलते रहे। रोगी को ज्ञात होता था कि उसका पेट किसी समय अकारण ही फूल आता है। पेट के फूलने से उसे असाध्य पीड़ा होती थी। इस रोगी को मनोविज्ञानशाला मे लेखक के एक डाक्टर मित्र ने भेजा। रोगी बड़ा ही सदाचारी, आदर्श-वादी और शीलवान है। जब वह रोगी बनकर आया था, उसके जीवन के अध्ययन से पता चला कि उसके बचपन मे ही उसके पिता की मृत्यु हो गई थी। वह पढ़ाई के लिये भाइयों के ऊपर आश्रित है। कुछ दिन पश्चात् उसकी एक मात्र बहिन की मृत्यु हो गई। उसे वह बहुत ही प्यार करता था। उसके बहिन के दो बच्चे हैं। वह बच्चों को भी अत्यन्त प्यार करता है। बहिन के मरने के पश्चात् उसके बहनोई ने दूसरी शादी कर ली। बहिन की मृत्यु के पश्चात् भी बच्चों के प्रेम के कारण वह बहनोई के घर जाता था। रोगी का सबंध बहनोई से रखना उसके भाइयों को असह्य

था। इसके लिये उन लोगों ने रोगी को कई बार भला बुरा कहा और घर से निकाल देने की धमकी दी। तभी से रोगी अपने भाइयों से अपना शिक्षा-व्यय नहीं लेना चाहता था, परन्तु उसे विवश होकर उन्हीं से व्यय लेना पड़ता था। इस मानसिक स्थिति को जानकर रोगी के पेट के रोग का कारण लेखक को बहुत कुछ ज्ञात हो गया।

तत्पश्चात् उसने एक बात और सुनाई कि उसका प्रेम एक समव्यस्क लड़की के साथ हो गया है। इस बात की खबर लड़की के माता पिता को थी। लेकिन उन लोगों ने कुछ भी बाधा न पहुँचाई। एक बार जब वह लड़की से मिलने गया तो वह दो-तीन मिनट बातचीत करने के पश्चात् ही चली गई। उसे संदेह हो गया कि लड़की के माता-पिता ने उससे मिलने के लिये उसे मना कर दिया है। तब से रोगी का जीवन और भी निराशामय हो गया और उसका रोग बढ़ गया।

रोगी देखने मे बड़ा ही सुन्दर व्यक्ति है। शारीरिक दृष्टि से भी वह काफी तगड़ा व्यक्ति है। कालेज के सभी खेलों मे वह भाग लेता था। उसके चेहरे से रोग का कोई भी लक्षण दिखलाई नहीं देता था। लेकिन बातचीत के समय जो उसने वेदना प्रकट की, उससे उसके रोग का वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो गया।

अभी हाल की बात है कि लेखक के एक शिष्य को भारी पेट की पीड़ा हुई। पेट की पीड़ा इतनी अधिक होती थी कि उसके कारण जीना भी कठिन हो जाता था। यह पीड़ा दस पन्द्रह दिन मे एक बार होती थी। पीड़ा हो जाने पर उसका सारा शरीर ठण्डा हो जाता था और हाथ पैर भी ठण्डे हो जाते थे। शिष्य का कहना था कि यदि उसे तीन चार बार यह पीड़ा और भी हुई तो वह मर जायगा। इस पीड़ा का कारण एक कुशल डाक्टर से पूछा गया तो उसने पेट मे

फोड़े का हो जाना बताया और कहा कि वह आपरेशन होने पर ही ठीक हो सकता है। उसके माता पिता इससे बहुत चिन्तित हुये।

लेखक ने उस शिष्य को अपने पास बुलाया। वह भावुक होते हुये भी हठी था। इस शिष्य को एक सौतेली मा है। घर के लोगों से उसे संतोष नहीं। उसके पिता उसे पूर्णतः प्यार नहीं करते थे। उसके चाचा भी अन्दर से कुछ द्वेष की भावना रखते थे। चाचा उसे पढ़ाई का खर्च नहीं देना चाहते थे। उसका अपने शिक्षक से झगड़ा हो गया था। इसके पश्चात् उसका उसके एक स्नेही व्यक्ति से झगड़ा हो गया। वह रोगी जिस व्यक्ति से प्रेम करता है, उससे वह पूर्ण प्रेम चाहता है। यदि वह उसे प्रथम स्थान न देकर दूसरा स्थान देता है तो यह मित्र की अपेक्षा शत्रु बन जाता है। फिर वह उस व्यक्ति के विरुद्ध अनेक षडयंत्र रचने लगता है, अथवा कुचिन्तन करता है। उसकी मानसिक स्थिति से पता चला कि वह अपने वातावरण से भारी संघर्ष कर रहा है। इन्हीं सघर्षों के परिणाम स्वरूप भूतपूर्व परीक्षाये प्रथम श्रेणी मे पास करने पर भी वह अब निराशावादी बन गया था।

शिष्य की इस स्थिति को देखकर लेखक को भूत की घटनायें तथा स्टैकिल महाशय के अनुभव स्मरण आये। इससे यह विश्वास हो गया कि उसका रोग शारीरिक नहीं अपितु मानसिक ही है। यहाँ रोगी का अपने रोग के विषय मे लिखा हुआ वृत्तांत जो "मनोविज्ञान" के नवम्बर १६५२ के अंक में प्रकाशित है उल्लेखनीय है "कुछ दिन पूर्व मुझे पेट मे बड़ा भयानक शूल उठने का रोग हो गया था। जिस समय यह दर्द उठता था, उस समय ऐसा मालूम पड़ता था कि अब मृत्यु से ही शांति मिल सकेगी। दर्द के समय कभी कभी तो मेरे माता-पिता इतने घबरा जाते थे कि रोने लगते थे। डाक्टरों की सलाह थी कि बिना आपरेशन के दर्द मिटने की कोई सम्भावना नहीं है, बल्कि आपरेशन कराना भी

मृत्यु के खतरे से खाली नहीं है। मैं इस बीमारी का कारण नहीं जानता था।

मैं अपने एक निकट सम्बन्धी को बड़ी ही श्रद्धा की दृष्टि मे देखता था और उनसे वही प्रेम पाता था जो एक पुत्र अपने पिता से। कुछ समय पश्चात् उक्त सम्बन्धी से मेरा मतभेद ही नहीं, कड़ी शत्रुता हो गयी। इसके पीछे एक विशेष कारण था। मुझे यह अनुभव होने लगा था कि उक्त सम्बन्धी महोदय मुझसे भी अधिक स्नेह मेरे एक दूसरे साथी को करते हैं तथा मेरा स्थान दूसरा है। अतएव मुझे अपने उस साथी के प्रति ईर्ष्या हो गई थी। मेरा स्वभाव एक ईर्षालु बालक जैसा बन गया है जो कि अपने दूसरे साथी के हाथ मे खिलौना देखकर उसे लेने का प्रयत्न करता है और न पा सकने पर यह कोशिश करता है कि वह खिलौना फूट जाय तो अच्छा रहे।

शत्रुता के बाद सबसे पहले मुझे सिर दर्द और चक्कर आने की बीमारी हुई। मैं मनोविज्ञानशाला के संचाचल महोदय के सम्पर्क मे पहिले से आ चुका था। उनसे मुझे जब यह सुनने को मिला कि मेरा सिर दर्द मानसिक रोग है—तो मैंने इसे एकदम अस्वीकार कर दिया। दो महीने बाद सिर दर्द की बीमारी समाप्त हो गई और पेट का शूल उठना शुरू हो गया। मैं अपने आप को मृत्यु के मुख मे समझने लगा। मेरे पिता बड़े चिन्तित हुए। इस स्थान पर मैं यह भी बता देना चाहता हूँ कि मेरे विचार अपने पिता के प्रति बहुत अधिक आदर के नहीं थे। उनसे भी मेरी पढ़ाई के लिए संघर्ष होता रहता था। मैं अपने चाचा को भी अपनी पढ़ाई मे बाधा डालनेवाला समझता था। मै समझता था कि मुझे अब इस दुनियाँ मे कोई प्यार नहीं करता है। सबसे अधिक प्यार मैंने जिस से पाया था तथा जिससे मैं बड़ी बड़ी आशाएँ करता था उसी से मुझे घोर निराशा हुई। मैं जानता था कि अपने पिता के प्रति द्वेष रखनेवाले मानसिक रोगी बड़े बड़े शारीरिक रोगों से पीड़ित होते हैं। मेरे एक शिक्षक के पैर मे यक्ष्मा (खुजलाने की बीमारी) हो गई

थी। मैं इसका कारण सिर्फ यही समझता था कि उक्त शिक्षक महोदय की और उनके पिता की बड़ी शत्रुता है।

पेट के दर्द से पीड़ित होकर मैं कभी कभी ख्याल करता था कि मुझे अपने सम्बन्धी के पास जाकर अपनी गलती कबूल कर क्षमा मांगनी चाहिये। पर मेरा मन बड़ा अभिमानी है। मैंने मर जाना उचित समझा पर सिर झुकाना नहीं। एक बार के दर्द ने मुझे दो घण्टे बेहोश रखा। इसी से डरकर मैं मनोविज्ञान शाला के संचालक के पास आया। अपना सब कष्ट सुनाने के बाद उनसे भी यही सुनने को मिला कि मुझे अपने सम्बन्धी से समझौता कर लेना चाहिये। इसी अवसर पर मेरे पिताजी का पत्र उन सम्बन्धी के पास आया। उन्होंने मुझे बड़े प्रेम और आदर के साथ बुलाया। यही मैं चाहता था।

पर मेरा क्रोध अपने चाचा जी, पिता जी और उक्त सम्बन्धी पर बना ही रहा।

मनोविज्ञान शाला के सचालक महोदय ने मुझे मैत्री भावना का अभ्यास कराया। मैंने अपने पिता जी, चाचा जी और सम्बन्धी के प्रति एक माह तक मैत्री भावना का अभ्यास किया। जिस दिन यह अभ्यास कराया गया, उस दिन सचालक महोदय ने मेरे पेट पर हाथ फेरा और बाद मे अभ्यास कराया। इस लम्बे संघर्ष काल मे मे शान्ति और संतोष का यह प्रथम दिवस था। मुझे गहरी नींद आ गई। ऐसा मालूम पड़ा कि मेरे पेट मे से बहुत बड़ा पत्थर निकाल कर फेक दिया गया। उस दिन के बाद फिर पेट का दर्द कभी नहीं हुआ। वह पेट का दर्द जो बिना आपरेशन ठीक हो ही नहीं सकता था, विचारो के आपरेशन से ठीक हो गया। मैत्री भावना से आश्चर्यजनक लाभ हुआ। मेरे जीवन की निराशामयी भावना और अपने भाग्य को कोसने की भावना गायब हो गयी। मेरे सम्बन्धी महोदय अब मुझसे पहले से अधिक स्नेह करते हैं और मैं उन्हें श्रद्धा करता हूँ।"

इस वृत्तान्त का लेखक प्रेम का भूखा है। उसकी मां का देहान्त उसके बचपन मे हो गया था। पिता के दूसरे विवाह कर लेने पर उसके मन मे उनके प्रति अश्रद्धा की भावना उत्पन्न हो गयी थी। वह इसके कारण घर से दूर रहने लगा था। वह जब कभी ऐसी परिस्थिति मे पड़ जाता है कि उस से अधिक दूसरे व्यक्ति को कोई प्यार दे तो वह दुःखी मन हो जाता है। वह ऐसे व्यक्ति से अत्यन्त घृणा करने लगता है। उसकी घृणा की मनोभावना ही पेट का रोग बन गयी थी। जब उसका मानसिक विकार हट गया तो रोग जाता रहा। इस रोगी से आनापानासति और मैत्री भावना का अभ्यास कराया गया था।

तीसरी रोगी एक पच्चीस वर्षीय महिला थी। यह लेखक की चार वर्ष तक छात्रा रही। जब वह लेखक से पहले पहल मिली तब उसे भूख नहीं लगती थी। वह दिन भर मे दो तीन रोटी खा सकती थी। उसके पेट मे बीच बीच मे पीड़ा होती थी। उसे कभी कभी बुखार भी आ जाता था। उसके मानसिक अध्ययन से पता चला कि उसका जीवन निराशामय है और वह किसी न किसी रोग का आवाहन करती रहती है। उसका विवाह एक ऐसे व्यक्ति से हो गया था, जिसे वह घृणा करती थी। वह उसे छोड़ देना चाहती थी, परन्तु समाज द्वारा उसे आज्ञा न मिली, जिसके परिणाम-स्वरूप उसे रोग ने ग्रसित कर लिया। इस रोग के कारण वह अपने पति के घर जाने से बच गई। वह आठ वर्ष तक बीमार रही। इस बीमारी की अवस्था मे उसने प्राइवेट इण्टरमिजिएट तक की परीक्षाये पास की। उसके पेट मे फोड़ा हो गया था और उसकी चिकित्सा मे अधिक रुपये व्यय हो जाने पर भी रोग समाप्त न हुआ। पेट मे फोड़े सदा होने की तैयारी होती रहती थी। इस महिला की हृदय विदारक अनुभूतियो को लेखक ने बड़ी ही सहानुभूतिपूर्वक सुना और उसके जीवन को उपयोगी बनाने के लिये अनेक मार्ग सुझाये। जब महिला के भावों

का रेचन हुआ और उसके जीवन में नई आशाओं की धारा बहने लगी तो उसके पेट का रोग जाता रहा। फिर उसने विश्वविद्यालय की अनेक उच्च परीक्षायें पास कीं।

क्षयरोग

प्राकृतिक चिकित्सा-विज्ञान के विशेषज्ञ श्री लिंडलिहार महाशय अपनी 'नेचरोथ्यूरोपेटिक्स' नामक पुस्तक मे शारीरिक रोगों के मानसिक कारण पर विचार करते हुए लिखते हैं कि आत्म संताप (सेल्फ पिटी) आत्मा का क्षयरोग है। यह मानसिक क्षय शारीरिक क्षय मे भी परिणत हो जाता है। अतएव हम जितने जल्दी इस रोग से अपने आपको मुक्त कर सकते हैं, उतना ही हमारे स्वास्थ्य के लिये भला है। यदि अधिक देर तक मानसिक क्षय की उपस्थिति रही तो वह अपना भयानक परिणाम शारीरिक व्याधि मे अवश्य दिखावेगी।

उक्त कथन की सत्यता लेखक के उपचार मे आये कुछ मानसिक रोगियों की जीवनी से प्रमाणित होती है। लेखक का एक पुराना शिष्य एक सुप्रसिद्ध क्षय रोग के सेनीटोरियम मे आज से दो वर्ष पूर्व भरती हुआ और उपचार के लिए वहाँ एक वर्ष रहा। यह बड़ा ही सदाचारी और साधु वृत्ति का नवयुवक है। इसके आदर्श बड़े ऊँचे हैं। वह बड़ा उदार और समाजसेवी है। परन्तु वह उन दिनों सदा निराशा के विचारों से आक्रान्त रहता था।

इस नवयुवक के क्षय रोग का तात्कालिक कारण उसका अपने शरीर पर अत्याचार था। उसने एक बार तेरह दिन का उपवास किसी साधु की आज्ञानुसार किया। साधु महात्मा भी उसके साथ ही उपवास करते थे। उसे तेरह दिन तक बिना कुछ खाये-पीये ही रहना पड़ा था। इस उपवास के करने के पूर्व इस विद्यार्थी ने लेखक से कोई सलाह नहीं

ली थी। इस उपवास ने युवक को इतना कमजोर कर दिया कि वह उठ बैठ नहीं सकता था। इसके बाद ही उसे क्षयरोग हो गया। वह कुछ दिन तक घर पर रह कर बंबई के सेनीटोरियम मे गया।

लेखक को इस युवक के घर की परिस्थिति का पूरा परिचय था। वह अपने पिता के व्यवहार से संतुष्ट नहीं था। युवक की मा को कई दिनो से पागलपन है, जिसका कारण युवक की दृष्टि मे माता के प्रति घर के लोगों का कठोर व्यवहार था। युवक का विवाह आज से पाच वर्ष पूर्व हो चुका था। परन्तु तीन वर्ष पूर्व उसकी स्त्री की मृत्यु हो गई थी। इसके बाद उसने विवाह नहीं कराया। युवक घर का सम्पन्न, पढ़ा-लिखा तथा सुन्दर व्यक्ति है। अतएव समाज के सैकड़ों लोगों ने चाहा कि वह विवाह करे, परन्तु उसने बिवाह करना अस्वीकार कर दिया। कुछ दिन तक वह विवाह यह कह कर टालता रहा कि जब तक वह अपनी शिक्षा समाप्त नहीं कर लेगा तब तक वह विवाह नहीं करेगा। दो वर्ष पूर्व उसने बी० ए० की परीक्षा पास करली थी और अब आगे पढ़ने का विचार न रहा। अब तो उसे घर पर ही रहना था। अब पिता का विवाह का आग्रह भी बढ़ने लगा। परन्तु नवयुवक विवाह को टालना चाहता था। विवाह को टालने का अब रोग के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय न रहा। लेखक जानता था कि युवक विवाह की जिम्मेदारी से बचना चाहता है। अतएव वह रोग का आवाहन कर रहा है और उसे रोग अवश्य हो जायगा। आज से दस वर्ष पूर्व लेखक के एक मित्र को किसी अप्रिय जिम्मेदारी से बचने की भीतरी इच्छा के कारण क्षयरोग हो गया था। यह व्यक्ति तालुकेदार के लड़के का अविभावक था। यह कार्य उसे अप्रिय था, परन्तु बिना किसी सक्रामक रोग के हुए उससे वह बच नहीं सकता था। उसका पिता भी इसी तालुकदार के यहाँ नौकर था। अतएव उसकी आन्तरिक इच्छा पूरी हुई। सक्रामक रोग के कारण वह अपनी जिम्मेदारी से

सदा के लिये मुक्त कर दिया गया। यह व्यक्ति दो साल तक विभिन्न क्षयरोग के सेनीटोरियमों मे रहा और फिर रोग से मुक्त हो गया।

जिस प्रकार की मानसिक स्थिति उक्त मित्र की थी, उसी प्रकार की मानसिक स्थिति इस नवयुवक की भी थी। लेखक से उक्त नवयुवक का पत्र व्यवहार सदा बना रहा। लेखक ने नवयुवक को एक बार लिखा कि वह अपने जीवन से घृणा करता है, इसीलिये उसे क्षयरोग हो गया है। इसके उत्तर में उसने एक रहस्यमय आत्मस्वीकृति लिखी जो इस प्रकार है—

"जब मैं किशोरावस्था मे ही था उस समय मैं बड़ा ही कामुक था। मेरा विवाह एक रूपवान लड़की से हुआ था। जब वह घर आई तो मैं भोग-विलाश मे पड़ गया। मैंने भोग-विलाश मे अति की। इससे मेरी स्त्री का स्वास्थ्य बिगड़ गया। परन्तु मैंने इसकी परवाह न की। उसकी रुग्णावस्था मे भी मैं काम-तृप्ति करता ही रहा। मेरी स्त्री अपने पिता पास रुग्णावस्था मे भेज दी गई। वहॉ भी मैं जाता था। अन्त मे उसे क्षय रोग हो गया। परन्तु मेने फिर भी अपना व्यसन न छोड़ा। इसी में उसकी मृत्यु हो गई। इससे मुझे बड़ा संताप और आत्मग्लानि हुई। अब कर ही क्या सकता था।"

रोगी का क्षय रोग अपनी स्त्री से तादात्मता के स्थापित होने से हुआ था। मनुष्य जिस प्रकार की भावना को आवेगपूर्ण होकर मन मे लाता है, उसी के अनुरूप उसका शरीर और मन बन जाता है। विस्मरण से आवेग प्रकट होकर शरीर मे निकल आता है।

उक्त आत्म-स्वीकृति से स्पष्ट है कि रोगी अपनी पुरानी भूल के लिये भारी मानसिक संताप का अनुभव कर रहा था। उसका रोग पुरानी भूल के प्रायश्चित के रूप मे था। जब तक रोगी की उस मानसिक ग्रन्थि का निराकरण नहीं हो गया, जिसके कारण उसे मानसिक संताप होता था तब तक उसके क्षयरोग का जड़ से जाना भी

कठिन था। (मनुष्य अपने अभिमान के कारण ही अपने आपको अनेक प्रकार की भूलों के लिये जिम्मेदार मान बैठता है। अतीत की सभी भूलों के दुःख से अपने आपको दुःखी बनाये रखना एक भारी नादानी है। इससे न हम अपने आपका और न दूसरों का कोई लाभ करते है। वास्तव मे जो व्यक्ति अपने आप मे कोई सुधार नहीं करना चाहते, वे ही अतीत की भूलों से अपने आपको दुःखी बनाए रखते है। पुरुषार्थवान व्यक्ति नये भले काम करके पुरानी भूलों का प्रायश्चित किया करते है। किसी प्रकार की कमी के लिये चाहे वह भौतिक हो अथवा नैतिक—अपने आपको कोसते रहना आत्मा मे क्षयरोग को स्थान देना है।)

उक्त नवयुवक का मन क्षयरोग को पकड़े हुए था। यह रोग उसे अकारण भय और चिन्ता से मुक्त करता था। (वियना नगर के प्रसिद्ध मानसिक चिकित्सक स्टेकिल महाशय का कथन है कि शारीरिक रोग की उपस्थिति मनुष्य को जटिल मानसिक परेशानी से बचाते है। यदि मानसिक व्याधियों से पीड़ित रोगियों को शारीरिक रोग न होवे तो वे आत्महत्या कर डालें। शारीरिक रोग की उपस्थिति मनुष्य के मानसिक रोग को कम कर देती है। शारीरिक पीड़ा मानसिक रोगी को विशेष प्रकार का आत्म-संतोष देती है। अतएव प्रकृति मानसिक रोगी को तब तक शारीरिक रोग प्रदान करती रहती है जब तक कि वह उसके लिये आवश्यक है।)

यहा यह बता देना आवश्यक है कि उक्त नवयुवक की स्त्री भी क्षयरोग से मरी थी। वह बड़ी रूपवान और सुशील महिला थी। युवक को अपनी पत्नी के मरने का भारी दुःख हुआ। वह अपने को उसकी मृत्यु के लिये जिम्मेदार समझता था और वह उसकी मृत्यु की घटना को भुलाने की भरसक चेष्टा करता रहा। इससे उसके जीवन मे एक ओर स्मृति ह्रास का रोग हो गया और दूसरी ओर

विषाद रोग की उपस्थिति हो गई थी। इसी मनोवृत्ति से प्रेरित होकर युवक ने तेरह दिन का उपवास भी किया था।

प्रत्येक प्रकार का मानसिक क्लेश जब तक वह मनुष्य की चेतना के समक्ष रहता है, शारीरिक रोग का रूप धारण नहीं करता। जब हम किसी मानसिक क्लेश को भुलाने की चेष्टा करते हैं तभी वह शारीरिक रोग का रूप धारण करता है। यह रोग उसी प्रकार का होता है जिस प्रकार के दोष से रोगी का मन प्रभावित रहता है। इस प्रसंग मे एक दूसरे क्षयरोगी के रोग का उल्लेख करना आवश्यक है।

लेखक की एक छात्रा, जो आज एक महिला कालेज की अध्यापक है, आज से चार वर्ष पूर्व क्षयरोग द्वारा ग्रसित हुई। यह रोग प्लूरेसी से बढ़कर हो गया था। यह महिला भी भुवाली के सेनेटोरियम मे साल भर रही और फिर वहां से स्वास्थ लाभ करके आई। इस महिला का रोग उसी प्रकार हुआ जिस प्रकार उसके पिता का रोग था। महिला का पिता सत्तर साल की अवस्था में प्लूरेसी का शिकार होकर क्षयरोग से मरा। महिला उस समय ट्रेनिंग कालेज काशी मे पढ़ रही थी। वह पिता की सेवा के लिये एक महीने की छुट्टी लेकर गई। पिता की प्लूरेसी से मृत्यु हो गई। इससे महिला को भारी दुःख हुआ। पिता की वृद्धावस्था मे महिला उसकी सेवा करना चाहती थी, परन्तु यह संभव न हुआ। वह अपने पिता की मृत्यु के लिये अपने आपको किसी प्रकार दोषी भी मानती थी। वह पिता की मृत्यु के दृश्य को भुलाना चाहती थी, परन्तु वह दृश्य भुलाये नही भूलता था। उसके भुलाने का प्रयास करते करते स्वयं उसे वही रोग हो गया जो उसके पिता को था।

महिला से प्रतिदिन बातचीत करके उसका मानसिक भार उतारा गया। उससे शैथिलीकरण का अभ्यास भी कराया गया। पिता की मृत्यु के लिये अपने आपको जिम्मेदार मानना एक भारी भूल है,

यह बात महिला के मन मे बैठाई गयी। इससे महिला की प्लूरेसी की पीड़ा जाती रही। पीछे वह क्षयरोग से भी मुक्त हो गई। उसके जीवन मे जो निराशा आ गई थी उसके, बदले आशा लाना भी आवश्यक था। अतएव उसे अपने जीवन का नया लक्ष्य बनाना आवश्यक है, यह बात मन मे बैठाई गई। कई दिनों के अभ्यास के परिणामस्वरूप महिला का मानसिक परिवर्तन हो गया और वह क्षयरोग से मुक्त हो गई।

(यहां यह कह देना आवश्यक है कि क्षयरोग के लिये जो भौतिक उपचार होते हैं, उनको रोकना मानसिक बनावट को बदलने के लिये आवश्यक नहीं है। भौतिक चिकित्सा से लाभ अवश्य होता है, परन्तु यह लाभ मानसिक बनावट के बदले बिना स्थायी नहीं होता। जब रोगी का भीतरी मन रोग से मुक्त नहीं होना चाहता, रोग की चाहे जितनी चिकित्सा क्यों न की जाय, वह नहीं जायगा।)

(मानसिक चिकित्सा शास्त्र का यह अटूट सिद्धान्त है कि मनुष्य के अधिकांश शारीरिक रोगों की जड़ उसके गुप्त मन मे रहती है। इस मन का मनुष्य को ज्ञान नहीं रहता। इस मन की इच्छाये बाहरी मन की इच्छाओं के कभी कभी अनुकूल होती हैं और कभी कभी उसके प्रतिकूल भी होती है। मनुष्य बाहरी मन से किसी विशेष प्रकार के रोग से परेशान रह सकता है परन्तु यह संभव है कि भीतरी मन से वह उस रोग को चाहता हो। कितने ही शारीरिक रोग मनुष्य को अपनी कटु ज़िम्मेदारियों से बचा देते हैं, और कितने ही प्रायश्चित के रूप में होते है। रोग रोगी को तब तक नहीं छोड़ता जब तक कि रोगी अपनी कठिन जिम्मेदारी को सहन करने के लिये तैयार नहीं हो जाता अथवा जब तक वह नहीं सोच लेता कि उसकी भूल का प्रायश्चित हो चुका अथवा जिस भूल को वह भारी पाप समझता था, उसके लिये वह जिम्मेदार ही न था।)

लेखक को हाल ही मे दो और नवयुवक मिले, जिन्हे हृदय का

रोग है। दोनों को स्मरण शक्ति के ह्रास का भी रोग है। दोनों नवयुवक अपने आपको अपनी स्त्री के प्रति भूल के लिये अपराधी मानते हैं। इनमें से एक नवयुवक हठी है, अतएव वह अपनी भूल को सुधारने को तैयार नहीं है और दूसरा अपनी भूल को सुधार नहीं सकता, क्योंकि जिस व्यक्ति के प्रति वह भूल हुइ है वह अब संसार में नहीं रहा। वह अपनी भूल को पहचानता है, परन्तु वह नहीं जानता कि अब उसके प्रायश्चित के लिये वह क्या करे।

पहले नवयुवक ने अपनी प्रिय पत्नी को अपनी माता और बड़े भाई के कहने पर छोड़ दिया और दूसरा विवाह कर लिया। इस विवाह के पश्चात् उसे आत्म भर्त्सना हुई। नव वधू न तो उतनी योग्य है और न उतनी रूपवान है जितनी पहली स्त्री थी। अतएव मन ही मन यह युवक कुढ़ता था, परन्तु उसे अपनी भूल के सुधार का मार्ग दिखाई नहीं देता था। इस मानसिक स्थिति के कारण रोगी को हृदय का रोग हो गया। यह आज दिन तक इस रोग से पीड़ित है। रोगी का आचरण अपने हृदय के माग के प्रतिकूल है, अतएव हृदय का रोग इसे होना स्वाभाविक है।

दूसरे नवयुवक की स्त्री घर पर क्षयरोग से पीड़ित होकर मर गई। वह उसे प्यार करता था, परन्तु वह उसे घर के अत्याचार से नहीं बचा सका। उसके मरने के छः महीने के भीतर उसका दूसरा विवाह हुआ। यह स्त्री न तो उतनी रूपवान और शीलवान है जितनी पहली स्त्री थी और न उसमें उतनी विद्वता के गुण ही हैं। अतएव युवक का इससे मानसिक संतोष न हुआ। अब उसे पुरानी स्त्री की याद आने लगी और उसके प्रति किये गये अत्याचार कटु स्मृतिके रूप मे उसे बार बार वेदना देने लगे। परन्तु वह करे क्या? वह तो बेचारी स्वर्गवासी हो चुकी है। जब युवक ने अपनी प्रेयसी की स्मृति को भुलाने की चेष्टा की, तब उसके हृदय मे धड़कन उत्पन्न हो गई। उसका जीवन नीरस हो

गया और उसकी स्मृति का ह्रास हो गया। वह अब साधारण सी बातें भूल जाता है। युवक का कथन है कि वह अपनी पहली स्त्री की स्मृति में रोना चाहता है परन्तु उसके आँखो से आँसू भी नहीं निकलते, मालूम होता है कि हृदय भावहीन हो गया है और जीवन भाररूप प्रतीत हो रहा है। यदि इस युवक की यही मानसिक दशा बनी रही तो उसका विक्षिप्त होना अथवा उसी रोग से ग्रस्त होना जिससे उसकी स्त्री की मृत्यु हुई है स्वाभाविक है। संतोष की बात यह है कि यह युवक जिस अपराध से अपने आपको अपराधी समझ रहा था उसके लिये वह उचित प्रायश्चित कर रहा है और उसकी मानसिक अवस्था में अब पर्याप्त सुधार हो चुका है।

आज से एक वर्ष पूर्व लेखक के पास एक पुराना शिष्य, जिसकी अवस्था चौबीस वर्ष की है, आया। इसे क्षय रोग हो जाने का भ्रम हो गया था। उसने अनेक डाक्टरों से अपने शरीर की परीक्षा कराई। उसे कुछ न कुछ शारीरिक रोग बना ही रहता था। उसे खासी और कुछ बुखार भी रहता था। इसके कारण उसने खाने पीने में काफी सयम प्रारभ कर दिया। इनके परिणाम स्वरूप वह शरीर से कृश काय हो गया और वह ठीक से चल फिर भी नहीं सकता था।

इस युवक ने लेखक के कुछ व्याख्यान शारीरिक रोगो के मानसिक कारणो पर सुने थे, अतएव जब कई दिनो के डाक्टरी इलाज से उसे अपने स्वास्थ्य मे सुधार होते न दिखाई दिया तब वह लेखक के पास इस आशा से आया कि सभव है कि इसके रोग का कोई मानसिक कारण हो। जब स्वयं रोगी किसी मानसिक चिकित्सक के पास इस उद्देश्य से आता है कि उसके रोग का उपचार किया जाय, तो रोग के उपचार होने में बड़ी सहूलियत हो जाती है। रोगी का इस प्रकार चिकित्सक के पास आना यह दर्शाता है कि रोगी का आन्तरिक मन अब रोग को छोड़ना चाहता है। उसकी भूल का प्रायश्चित हो चुका है। ऐसी अवस्था में रोग से रोगी को मुक्त कराने में पूरा सहयोग मिलता है। बिना इस सहयोग के किसी

भी रोगी को उसके रोग से मुक्त करना असंभव है। ऐसी अवस्था में उसके स्वप्न भी स्पष्ट होते हैं और उनमें रोग की चिकित्सा का मार्ग लक्षित रहता है।

रोगी के मानसिक अध्ययन से पता चला कि वह अपने आपको पुरुषार्थहीन मान बैठा था। उसकी जिम्मेदारियाँ भारी थी। वह कई परीक्षायें पास कर चुका था, परन्तु उसे उचित आजीविका प्राप्त नहीं हो पाई थी। गाँव के लोग उसके पुरुषार्थ की भर्त्सना करने लगे थे। उसे घर के लोग निकम्मा मानने लगे थे। घर के काम के भार से उसकी स्त्री लद गई थी। बेचारी क्या करे? कभी कभी माता और स्त्री मे झगड़ा भी हो जाता था। इससे स्त्री भारी दुःखी रहती थी। वह अपने पति की ओर ताकती, परन्तु पति भी लाचार थे। उसकी आमदनी कुछ नहीं के बराबर थी। अतएव स्त्री की मूक भर्त्सना भी उसे सुननी पडती थी। जिन लोगों से वह नौकरी दिलाने की आशा करता था उन्होने कोई सहायता न दी। (जब रोगी अपने भाग्य को कोसने लगता है तब उसकी मानसिक दशा बड़ी दयनीय हो जाती है। ऐसी अवस्था मे उसका आन्तरिक मन किसी ऐसे रोग का आवाहन करता है जो उसकी इस दयनीय अवस्था पर आवरण डाल सके और जो उसे अपने जीवन की असह्य जिम्मेदारियों से मुक्त कर सके।) उक्त रोगी किसी का भार न उठा सकने के लिये अपने आपको कोसता था। उसकी धर्म बुद्धि उसकी भर्त्सना करती थी। अतएव युक्त नवयुवक के लिये रोगी होना आवश्यक था। यह उसके अचेतन मन की मांग थी। यदि यह युवक रोगी न होता तो उसका मन उसे और भी अधिक त्रास देता और वह आत्म-हत्या की ओर अग्रसर हो जाता है (कितने ही व्यक्तियो को शारीरिक रोग, चाहे वे कल्पित हो अथवा वास्तविक, आत्म-हत्या की भावना से बचा लेते हैं, अतएव ये रोग प्रकृति की कठोरता के प्रतीक न होकर उसकी दया के प्रतीक हैं।)

आज इस नवयुवक का मानसिक सुधार हो चुका है। वह ट्रेनिंग

कालेज मे शिक्षा प्राप्तकर शिक्षण कार्य रहा है। उसका दृष्टिकोण परिवर्तित हो गया है। अब वह अपनी आर्थिक अवस्था के लिये अपने आपको दोषी नहीं मानता। वह भगोड़ेपन की मनोवृत्ति से मुक्त होकर आज पुरुषार्थ-वान व्यक्ति बन गया है। पिछले साल इस नवयुवक ने एक विद्यालय में अवैतनिक अध्यापन साल भर किया। वह अपने काम की कीमत समझने लगा। उसकी पढ़ाई से लड़के बहुत प्रसन्न रहते है। वह अपने छात्रों के हृदय के ऊपर विजय प्राप्त करने की चेष्टा करता है। उसे अपनी नई शक्ति का बोध हो गया है।

जिस प्रकार पहले अनेक लोग उसके सामर्थ्य की निंदा करते थे उसी प्रकार उसके अनेक प्रशंसक पैदा हो गये हैं। वह समाजवादी दल का एक प्रमुख सगठनकर्ता बन गया है। उसकी सच्चाई के कारण संस्था की भी प्रतिष्ठा बढ़ गई है। वह गाँव के सुधार के काम मे आज हाथ बटाता है। वह जानता है कि यदि वह अधिक पैसा पानेवाले लोगों के समान जीवन की सुविधाये प्राप्त नहीं कर पाता तो उसका दूसरे धनी लोगो से सम्मान कम नहीं है। समाज की सेवा करना सभी के हाथ मे है और इससे प्रत्येक व्यक्ति समाज का सम्मान प्राप्त कर लेता है। यह उसके जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव है। वह आज आशावादी है और उसका क्षय रोग अब उससे कोसो दूर हो गया है।

(लेखक की चिकित्सा मे आये अनेक रोगियों की जीवनी के अध्ययन से पता चलता है कि उनका रोग उनकी मानसिक व्याधि का आवरण मात्र रहता है। जो लोग अपनी मानसिक झंझट को सुलझाने के लिये कटिबद्ध हो जाते हैं, उन्हे शारीरिक रोग भी देर तक नहीं सताते। इसके लिये मनुष्य को अपने दृष्टिकोण को परिवर्तित करना पड़ता है। इस दृष्टिकोण का परिवर्तन होना एक बड़े भाग्य की घटना है। मनुष्य अनेक प्रकार के कष्ट उठाने के पश्चात् ही अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करता है। स्वयं रोग उसके दृष्टिकोण मे परिवर्तन लाने मे सहायक होता है।)

हर एक रोगी निराशावादी होता है। वह रोग को अपने निराशावाद का कारण मान लेता है, परन्तु यह उसके आन्तरिक-भावों का आरोपणमात्र है। रोगी होकर मनुष्य अपनी अप्रिय जिम्मेदारी से बच जाता है। अतएव कितने ही मानसिक संकट में पड़े व्यक्ति रोग का आवाहन करते रहते हैं। शारीरिक रोग मनुष्य को एक ओर को समाज की आलोचना से बचा लेता है और दूसरी ओर वे उसे आत्मग्लानि से भी बचा लेते हैं। मनुष्य को सब से बड़ा दुःख शारीरिक नहीं अपितु मानसिक होता है। यह दुःख आत्म भर्त्सना के कारण उत्पन्न हो जाता है। आत्म-भर्त्सना जब चेतन मन में रहती है तब दुःखद होती है। आत्म-भर्त्सना किसी प्रकार की असफलता के कारण होती है। नैतिक क्षेत्र की असफलता सबसे अधिक आत्म भर्त्सना उत्पन्न करती है। रोग मनुष्य की पलायन की मनोवृत्ति को दर्शाता है। रोग उपस्थिति का अर्थ है कि मनुष्य की अपनी वाह्य अथवा आन्तरिक परिस्थितियों से लड़ते लड़ते हार गया है और इस लड़ाई में वह सफलता की आशा नहीं रखता। जब विद्यार्थी कक्षा की परीक्षा में अपनी अभिलाषा के अनुसार सफल होने की आशा खो देता है तब वह रोग का आवाहन करता है और उसे कोई रोग हो भी जाता है। इसी प्रकार जब मनुष्य आन्तरिक परीक्षा में सफलता की कोई आशा नहीं रखता, तो रोग का आवाहन करता है, और रोगी बन जाता है। कितने ही व्यक्ति जब अपने आपको स्त्री की भोग इच्छा की तृप्ति करने में असमर्थ मान बैठते है तो वे जटिल शारीरिक अथवा मानसिक रोग के भोगी बन जाते है। इसी प्रकार अपनी परिस्थितियों से परेशान व्यक्ति किसी प्रकार के रोग का आवाहन करता है और वह उसे पकड़ लेता है। जब तक मनुष्य की निराशावादिता और पलायन की मनोवृत्ति समाप्त नहीं होती, रोग नहीं जाता।

—०—

सातवां प्रकरण

मानसिक द्वन्द्व का निराकरण

प्रत्येक मनुष्य को कभी न कभी भारी मानसिक द्वन्द्व का अनुभव होता है। जब कभी हमें मानसिक द्वन्द्व की अवस्था में रहना पड़ता है, तब हमें असह्य अशान्ति की अनुभूति होती है। संसार का कोई दुःख इतना पीड़ा जनक नहीं होता, जितना कि मानसिक द्वन्द्व से उत्पन्न दुःख होता है। यह मानसिक द्वन्द्व कुछ मनुष्यों को बार बार होता है और कुछ को कभी कभी। जिन लोगों को मानसिक द्वन्द्व का बार बार अनुभव होता है, वे अपनी मानसिक शक्ति को इस द्वन्द्व में ही समाप्त कर देते हैं और इस प्रकार के दुःख से बचने के लिए कभी कभी वे शारीरिक रोग का आवाहन करने लगते हैं। मनुष्य मानसिक बेचैनी हटाने के लिए शारीरिक रोग को श्रेयस्कर समझता है। वह पुरुष भाग्यवान् है, जिसके मन में किसी प्रकार का मानसिक संघर्ष नहीं चलता। आन्तरिक साम्य की अपेक्षा दूसरा किसी प्रकार का सुख श्रेष्ठ नहीं है।

मानसिक द्वन्द्व चेतन अथवा अचेतन मन में चल सकता है। मानसिक संघर्ष का कारण सदा मनुष्य के चेतन मन के अनुभव में रहता है। जब हम दो विरोधी बातों को एक साथ ही चाहते है, तब हम अपने आप में मानसिक द्वन्द्व की स्थिति उपस्थित कर लेते हैं। जिस मनुष्य के जीवन के मौलिक सिद्धान्त निश्चित हैं अर्थात् जिसका जीवन किसी आदर्श की ओर जाता है, उस व्यक्ति के मनमे ये संघर्ष अधिक देर तक नहीं चलते। वह उस इच्छा की पूर्ति करने की कोशिश करता है, जो उसके आदर्श के अनुकूल होती है, अथवा जो उसके जीवन के सिद्धान्तो के विरुद्ध नहीं होती। इस प्रकार मनुष्य की मानसिक शक्ति निरर्थक कार्य मे खर्च न होकर रचना-

त्मक कार्य में लग जाती है। इसी से मनुष्य की इच्छा शक्ति बलवान होती है। जिस मनुष्य के जीवन के सिद्धान्त जितने ही दृढ़ होते हैं, उसके मनमे मानसिक द्वन्द्व उतने ही कम होते हैं।

मानसिक संघर्ष जब तक मनुष्य के चेतन मनमे चलता है, तब तक उसका सुलझा लेना मनुष्य के सामर्थ्य की बात है। साधारणतः मनुष्य अपने चेतन मनमे चलने वाले संघर्षों से अपने आपको बचाने की चेष्टा करता है। मान लीजिये, उसने अपने नैतिक सिद्धान्त के प्रतिकूल कोई आचरण कर डाला और उसके कारण उसे भारी आत्मग्लानि होती है, अथवा उसके मनमें किसी प्रकार के व्यभिचार की बात बार बार आती है, जो उसकी नैतिक धारणा के प्रतिकूल है तो वह इस प्रकार की अनुभूति को सुलझाने की अपेक्षा उसे चेतना की सतह से अलग करने की चेष्टा करता है। बार बार के प्रयत्न से चेतन मनमे चलने वाला संघर्ष चेतन मन से अलग हो जाता है; परन्तु अब यह सघर्ष व्यक्ति के अचेतन मनमे चलने लगता है। जब चेतन मनका संघर्ष अचेतन मनमे चला जाता है, तब उसे समाप्त करने में व्यक्ति की इच्छा शक्ति का हाथ नहीं रहता। फिर यह सघर्ष प्रतीक रूपसे अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोगो मे प्रगट होता है। यह अकारण भय और चिन्ताओं का रूप धारण कर लेता है।

मनोविज्ञानशालामे आये हुए एक व्यक्तिको प्रत्येक प्रतिष्ठावान व्यक्ति से मिलने पर अकारण ही हृदय की धड़कन होती थी। इसके कारण वह किसी भी आगन्तुक से, जिसमे किसी प्रकार की महानता दिखाई पड़ती थी, बातचीत नहीं कर सकता था। इतना ही नहीं, उसे प्रत्येक ऊँचे पदार्थ से, ऊँचे घरों से, मीनारों से, खम्भों से अकारण ही भय लगता था। उसके जीवन का अध्ययन करने से पता चला कि प्रत्येक प्रकार की ऊँचाई उसके अचेतन मन के लिये नैतिकता की प्रतीक थी। उसने नैतिकता के क्षेत्र मे अनेक प्रकार की अवहेलना की थी। उसने कई बार व्यभिचार मे भाग लिया, जिसके लिये उसकी अन्तरात्मा भर्त्सना करती थी। यह व्यभिचार की

प्रवृत्ति उसके मनमे अब भी वर्तमान थी और व्यक्ति के अनजाने ही किसी विशेष प्रकार की परिस्थिति मे वह उत्तेजित हो जाती थी। जब भी यह प्रवृति उत्तेजित होती, तभी व्यक्ति की नैतिक बुद्धि भी सचेत हो जाती थी। इस प्रकार उस व्यक्ति के अनजाने ही उसके मनमे आन्तरिक संघर्ष चलते रहता था और इसी के कारण उसे हृदय की धड़कन और अकारण भय होता था। वह अपने आपको अचेतन मनमे एक ऐसे अपराधी के समान समझता था, जो पुलिस को देखते ही डरने लगता है, । रोगी इस डरने का कारण स्वयं नहीं जानता था, क्योंकि उसने अपने चेतन मनके संघर्ष को दबाकर उसे अचेतन मनमें पहुँचा दिया था।

एक नवयुवक को सर्वदा अकारण मृत्यु का भय और हृदय की धड़कन होती रहती थी। इसके कारण उसने अपना साधारण भोजन छोड़ दिया था और फलाहार पर रहने लगा था। भोजन की कमी और सदा भय की उपस्थिति के कारण वह कृशकाय हो गया था। उसके रुधिर मे साधारण तत्वों की कमी हो गई थी। इसकी मानसिक चिकित्सा करते समय पता चला कि उसके मनमे अपनी ही चाची के प्रति प्रबल काम इच्छा कार्य कर रही थी, जिसकी प्रबल भर्त्सना उसकी नैतिक बुद्धि करती थी। इस व्यक्ति ने एक बार अपने चेतन मनमें भी इस वासना की अनुभूति की थी, परन्तु इसे नैतिक धारणा के प्रतिकूल जानकर उसका दमन किया गया था और यह पूरी घटना विस्मृत कर डाली गई थी। चेतन मनसे इस तरह जीवन के आदर्श और वासना का सघर्ष हटा दिया गया था, परन्तु यह अब उस व्यक्ति के अचेतन मनमे चलने लगा और जब व्यक्ति की मानसिक शक्ति इस सघर्ष के कारण बहुत कम हो गई, तब यह सघर्ष रोग के रूप चेतना की सतह पर आ गया। जब तक मनुष्य की इच्छा शक्ति बली रहती है, तब तक मनमे चलने वाले अनेक सघर्ष किसी प्रकार के रोग के रूपमे चेतना की सतह पर नहीं आते। ये संघर्ष रोग का रूप धारण तभी करते हैं, जब मनुष्य की इच्छा शक्ति

अथवा उसका मानसिक बल किसी कारणवश कम हो जाता है। बल को कम करने मे एक कारण स्वयं यह संघर्ष ही होता है; परन्तु इसके अतिरिक्त बाहरी परिस्थितिया भी मानसिक बल को कम कर देती है। किसी प्रकार की लौकिक असफलता अथवा शारीरिक रोग इस आन्तरिक द्वन्द्व को प्रतीक रूपसे बाहर ले आने का कारण बन जाते हैं। बाहरी संकट मस्तिष्क के बल को जब कम कर देते हैं, तब इच्छाशक्ति मे अचेतन मनमे उपस्थित सघर्ष को दबाने की शक्ति नहीं रह जाती। इस तरह मनुष्य के व्यक्तित्व के शत्रु अपना वीभत्स अभिनय चेतना की सतह पर ही करने लगते है।

देखा गया है कि बहुत से मानसिक रोगियो के रोग किसी शारीरिक रोग के पश्चात् अथवा किसी दुर्घटना के पश्चात् उभड़ते हैं। ये शारीरिक रोग अथवा दुर्घटनायें उनकी जनक नहीं हैं, ये केवल आन्तरिक संघर्ष को व्यक्त करने के अवसर मात्र है। जिस राष्ट्र मे आन्तरिक संघर्ष चलते रहते हैं, वह इन संघर्षों के कारण भीतर से खोखला अवश्य रहता है, परन्तु जब तक राष्ट्रकी सरकार को किसी बाहरी सकट का सामना नहीं करना पड़ता, तब तक सघर्षकारी शक्तियॉ खुले आम सरकार की क्षति नहीं कर पाती और किसी प्रकार का भयानक रूप धारण नहीं करती। बाहरी सकट मे पड़ने पर जब सरकार का बल कम हो जाता है, तब उसके अधिकार मे रहने वाली दमित अज्ञात शक्तियॉ प्रकाशित हो जाती है और अनेक प्रकार से उसकी क्षति करने की चेष्टा करती है। जिस प्रकार एक राष्ट्र की सरकार के लिए आपस मे सघर्ष करने वाली ज्ञात शक्तियो मे समन्वय स्थापित करना उसके कल्याण के लिये आवश्यक है, इसी प्रकार मनुष्य की अनेक प्रकार की भोगवादी और आदर्शवादी प्रवृत्तियो मे जब सघर्ष उसके चेतन मन पर चलता है; तभी उनमे साम्य स्थापित करना व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से कल्याणकारी होता है।

(मनुष्य उस प्रवृत्ति से सदा डरता रहता है, जिसका वह दमन करता है। दमन की गयी प्रवृत्ति उसके व्यक्तित्व की शत्रु बन जाती है। मनुष्य की दो प्रकार की प्रवृत्तियो मे संघर्ष होता है, एक आदर्शवादी और दूसरी भोगवादी। मनुष्य के जीवन के विकास मे दोनों ही प्रकार की प्रवृत्तियो का महत्व का स्थान है। भोगवादी प्रवृत्तियो के समुचित रूपसे तृप्त हुए बिना मनुष्य का न तो शरीर और न मन बली हो सकता है। इसी प्रकार आदर्शवादी प्रवृत्तियो की तृप्ति उसके व्यक्तित्व को समाजोपयोगी बनाने के लिये और उसको जीवन मे अधिक से अधिक मूल्यवान व्यक्ति बनाने के लिये आवश्यक है। सघर्ष की अवस्था मे मनुष्य प्रायः एक प्रकार की प्रवृत्ति के साथ पक्षपात करता है, फिर दूसरे प्रकार की प्रवृत्ति रुष्ट होकर उसके चेतन मन से लुप्त हो जाती है और वह मनुष्य के व्यक्तित्व के प्रतिकूल षडयन्त्र करने लगती है। इस प्रकार से मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। ये रोग अकारण ही दिखाई देते है, परन्तु इनके कारण छिपे हुए रहते है।)

मनोविज्ञान शालामे आये हुए एक भले परिवार के व्यक्ति के जीवन मे उसकी नैतिक भावना का दमन हुआ था। इस व्यक्ति की नैतिक शिक्षा उच्च कोटि की थी। उसके माता पिता ने उसे सदाचारी बनाने की पूरी चेष्टा की थी। यह व्यक्ति आधुनिक डाक्टरो की सलाह के अनुसार सन्तान की वृद्धि को रोकने के लिये सन्तति-निग्रह के उपाय काम मे लाने लगा। इससे इसकी भोग प्रवृत्ति प्रबल हो गई। यह उसकी नैतिक बुद्धि के लिये असह्य था, और उसने इस व्यक्ति के मनमे स्त्री जाति भर के लिए अकारण भय की भावना उत्पन्न कर दी। पीछे इस व्यक्ति को अकेले रहने का भी भय हो गया। जब तक इसके आस-पास दो चार आदमी नहीं होते, तब तक वह उस स्थान पर ठहर ही नहीं सकता था। यहाँ व्यक्ति की नैतिक बुद्धि इस व्यक्ति को अपनी सुखकी लिप्सा को अनुचित ढंग से तृप्त करने के लिए दण्ड दे रही थी। स्टैकल महाशय ने अपनी

"टेकनीक आफ साइकोएनॉलेसिस" नामक पुस्तक मे अनेक ऐसे रोगियों का वृतान्त दिया है, जिनके रोगों का कारण नैतिक भावना की अवहेलना थी। एक अच्छे कुलका भारतीय विद्यार्थी डाक्टरी पढ़ने के लिये वियना गया। इसे भारतवर्ष मे कूट कूट कर नैतिकता और सदाचार की शिक्षा दी गई थी, परन्तु वह वियना जाकर मनमाना खान पान और भोग विलास करने लगा। कुछ समय के बाद उसे शरीर के गुप्त भाग में भयंकर फोड़ा फुन्सी हो गये और नपुंसकता आ गई। इसकी चिकित्सा के लिए उसे स्टैकिल महाशय के पास जाना पड़ा। स्टैकिल महाशय ने उसकी जीवनी का अध्ययन करके उसे सलाह दी कि वह बचपन मे मिली हुई शिक्षा के अनुसार वह आचरण करे, तो उसका रोग समाप्त हो जावेगा। उसने कुछ समय तक ऐसा किया भी और उसका रोग हल्का हो गया, परन्तु वह फिर पीछे अनैतिक प्रवृतियों के वशीभूत होकर वर्जित काम को करने लगा और इसके कारण वह फिर से रोगी हो गया।

एक दूसरे व्यक्ति ने अपनी एक प्रेमिका के आचरण से असन्तुष्ट होकर उसे तलाक दे दिया था, परन्तु अभी भी उस महिला को प्यार करता था। इस प्यार को वह स्वीकार नहीं करता था। उसके चेतन मनमे महिला के प्रति प्रेम ने घृणा का रूप धारण कर लिया था। घृणा प्रेम का विकृत रूप है। इस रोग के उपचार के लिये जब वह स्टैकिल महाशय के पास आया, तब स्टैकिल महाशय ने इस प्रेमिका के विषय मे उसके आन्तरिक भावोंको जानने की चेष्टा की। वह ऊपर से तलाक से सन्तुष्ट ही था। उसने स्टैकिल से इस महिला के प्रति प्रेम का कोई लक्षण न दिखाया। वास्तव मे स्वयं रोगी को भी अपने आन्तरिक मनकी स्थिति का ज्ञान न था। जब स्टैकिल महाशय उसकी चिकित्सा कर रहे थे, उन्हीं दिनों रोगी को एक बड़ा वेदना युक्त स्वप्न हुआ। उसने अपने स्वप्न मे देखा कि उसकी तलाक दी गई स्त्री उसके समक्ष उपस्थित है और वह उससे कह रहा है कि मैं तुम्हारे सिवाय और किसी को भी प्यार नहीं करता। इस पर

उस महिला ने चिढ़ कर क्रोध से कहा "तुम्हारे ऐसे प्रेम को शैतान खाये।" इस पर यह व्यक्ति बहुत ही उत्तेजित हो उठा और उसने अपनी एक कटार उसकी छाती में घुसेड़ दी। फिर वह महिला जोर से चिल्लाते हुए खून से लथपत हो जमीन पर गिर पड़ी। इसी बीच यह रोगी जोर से चिल्लाया। उसकी चिल्लाहट को सुनकर उसका नौकर दौड़ा हुआ आया और उसने उसे स्वप्न से जगाया। इसी समय से उसे भारी हृदय के रोग की पीड़ा प्रारम्भ हो गई और नौकर अपने मालिक के लिए डाक्टर के पास अर्थात स्टैकिल महाशय के पास दौड़ा आया। जब स्टैकिल महाशय ने रोगी को उसके रोग का वास्तविक कारण बताया तब उसने उसे स्वीकार न किया। यह उसके अभिमान के प्रतिकूल था कि वह तलाक दी गई स्त्री को फिर से स्वीकार करे, अतएव उसने स्टैकिल द्वारा अपने रोग की चिकित्सा कराना ही बन्द कर दिया।

इस प्रकार नैतिकता की अवहेलना अथवा पुराने संस्कारों के विरुद्ध आचरण रोग का रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार मनुष्य की भोग प्रवृत्ति भी दमित होने पर रोग का रूप धारण करके प्रकट होती है। गत वर्ष स्थानीय कालेज के एक छात्रको, जिसकी उमर २२ साल की है, अकारण भूत का भय और साप से काटे जाने से भय लगा रहता था। इसके कारण वह सबेरे उठकर शौच आदि नहीं कर पाता था। इस व्यक्ति के मन का विश्लेषण करने से पता चला कि उसमें प्रबल दमित समलिंगी काम की वासना है। यह उसके स्वाभिमान के प्रतिकूल थी। इस वासना की शक्ति का सदुपयोग न होकर उसका दमन मात्र किया गया था। इसके कारण वह उसका शत्रु बनकर भूत और साप के भय में प्रकाशित होती थी। जब इस युवक ने अपने जीवन की सभी घटनाओं को लेखक से कहा और अपनी इस वासना की आत्म-स्वीकृति की, तब उसका उक्त भय जाता रहा। इनके समाप्त करने के लिये इस प्रकार के भावों के मनोवैज्ञानिक प्रकाशन के अतिरिक्त युवक से आनापान

सति और मानसिक शैथिलीकरण का अभ्यास भी कराया गया । ये अभ्यास व्यभिचार सम्बन्धी दमित वासनाओं के निराकरण के लिये और मनुष्य की इच्छा शक्ति को वली बनाने के लिए वड़े उपयोगी सिद्ध हुए है। अभ्यास मनुष्य के आत्मनिर्देशको वली बनाते है।

हिस्टीरिया के रोग मे मनुष्य की भोगवासना अथवा उसकी प्रेम की इच्छा का ही दमन नैतिक धारणा द्वारा होता है। रोग तव तक नहीं होता जबतक व्यक्ति की आसक्ति की प्रवृति और नैतिक बुद्धि अथवा लोक-लज्जा का संघर्ष चेतना के स्तर पर होता है। जब मनुष्य इस संघर्ष को भुलाने की चेष्टा करता है और जब यह उसके अचेतन मन मे चलने लगता है, जिसमे कि नैतिक धारणा अधिक प्रबलता की अवस्था मे रहती है तभी मनुष्य को हिस्टीरिया का रोग होता है। हिस्टीरिया के रोग में दमित वासना स्नेह की आसक्ति की अथवा शारीरिक सुख की होती है और इसका दमन मनुष्य की नैतिक बुद्धि अथवा उसका समाज मे सम्मानित रहने का भाव करता है। हिस्टीरिया का रोग अकारण चिन्ता के रूप मे पहले पहल प्रकाशित होता है, फिर वह विलक्षण आचार व्यवहार मे प्रकाशित होता है। कभी कभी वह शारीरिक रोग का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार के रोग को "रूपान्तरित हिस्टीरिया" कहते हैं। आँख मे कोई बुराई न होकर भी दिखाई न देना, कुछ समय के लिये गूंगे हो जाना, हाथ अथवा पैर का लकवा होना, अकारण ही सिर की पीड़ा होना—ये सब रूपान्तरित हिस्टीरिया के प्रकार है। इन सबका कारण दमित प्रेम अथवा आसक्ति की भावना रहती है। रूपांतरित हिस्टीरिया मे रोगी को कोई शारीरिक दोष नहीं रहता, परन्तु उसके रोग के वाहरी लक्षण ऐसे होते हैं, जैसे कि शरीर के अंग की वास्तविक क्षति हो गई हो जब मनुष्य की नैतिक भावना की अवहेलना होती है तब उसे केवल अभिनयकारी शारीरिक रोग ही नहीं होते, उसे वास्तविक शारीरिक रोग भी इस प्रकार की अवहेलना के कारण हो जाते है,

अर्थात् मनुष्य किसी घोर अनैतिक कार्य के लिये सचमुच में अंधा, बहरा, हकला अथवा नपुंसक हो जाता है। नैतिकता के प्रतिकूल किसी नजदीक के संबधी को घृणा करने से पेट के फोड़े, दमा और हृदय के वास्तविक रोग हो जाते हैं।

आधुनिक काल मे इस विषय पर मनोवैज्ञानिकों मे बड़ा वाद-विवाद हो रहा है कि मानसिक रोगों का कारण किस प्रकार की वासना का दमन है। इतना तो सभी मानसिक चिकित्सको ने स्वीकार कर लिया है कि किसी प्रबल प्रवृत्ति के दमन के कारण और उसके अचेतन मन में क्रियमाण रहने के कारण मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है, परन्तु यह प्रवृत्ति किस प्रकार की है—नैतिक अथवा भोगसंबधी, इस विषय पर मत-भेद है। फ्रायड महाशय के कथनानुसार सभी मानसिक रोगो का कारण कामवासना का दमन होता है और इसका दमन मनुष्य की नैतिक बुद्धि करती है, अतएव यदि मानसिक रोगी की काम वासना को किसी प्रकार चेतना की सतह पर लाया जा सके और उसे उचित रूप से प्रकाशन का अवसर मिले तो उसके रोग की समाप्ति हो जाय। दमित वासना ही रोग बन जाती है। इस वासना के प्रकाशन के लिए ऐसे उपाय निकालना होगा, जिससे कि व्यक्ति की समाज मे निन्दा हुए बिना वासना की शक्ति क्षीण हो जाय अथवा उसका सदुपयोग हो सके। इसके लिए फ्रायड महाशय ने वासना के उदात्तीकरण करने का मार्ग सुझाया है। कला, कविता, साहित्य, सगीत, संकीर्तन, धर्म-सम्मेलन, शिक्षा, शिशु-पालन और रोगियो की सेवा दमित कामवासना के उदात्तीकरण के अनेक उपाय हैं। डा० फ्रायड के कथनानुसार यदि प्राकृतिक रूप से भी कामवासना की तृप्ति हो तब भी रोगी को लाभ होगा। सन्तति-निग्रह के उपायों को काम मे लाने वाले अथवा विकृत रूप से कामेच्छा की तृप्ति करने वाले बहुत से रोगियों के रोग की समाप्ति प्राकृतिक रूप से कामेच्छा को तृप्त करने से हो जाती है। डा० फ्रायड के अनुयायियों

ने अपने मानसिक रोगियों को कभी-कभी उनके रोग से मुक्त होने के लिये स्वेच्छापूर्ण काम-वासना की तृप्ति की सलाह दे दी है। इस सलाह के दुष्परिणाम पर उन्होने विचार नहीं किया। यदि काम-वासना के दमन से ही मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है तो यह स्वाभाविक है कि मनुष्य उसके निराकरण के लिये स्वच्छन्दता पूर्ण कामवासना की तृप्ति करना श्रेष्ठतम उपाय माने और उसी को सर्वदा आचरण मे प्रयोग करे। समाज की आलोचना से बचने के लिए मनुष्य अपनी शक्ति का उदात्तीकरण भले ही करे, परन्तु रोग से मुक्त होने के लिये इस प्रकार का उदात्तीकरण अनिवार्य नहीं है।

डाक्टर फ्रायड के विचारों से प्रभावित होकर संसार के साहित्यकारो ने ऐसे साहित्य का निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया, जिससे कि व्यक्ति की भोगमयी वासनाओ को स्वच्छन्दता पूर्वक प्रकाशित करने का प्रश्रय मिलता है। इस प्रकार के साहित्य को कभी-कभी प्रगतिशील साहित्य कहा जाता है। परन्तु इस प्रकार की शिक्षा का परिणाम न तो व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ की दृष्टि से लाभकारी सिद्ध हुआ है और न समाज मे सुख बढ़ाने की दृष्टि से। कामवासना को स्वच्छन्दता पूर्वक तृप्त करने की छूट मिलने पर मनुष्य की नैतिकता की अवहेलना होती है और इस अवहेलना से जो मानसिक रोग मनुष्य को होते हैं, वे पहले प्रकार के मानसिक रोगों से कहीं अधिक भयङ्कर होते हैं। जहाँ पहले प्रकार के दमन से मनुष्य के निम्न स्तर के स्वत्व की अवहेलना होती है, वहाँ दूसरे प्रकार के दमन से मनुष्य के उच्च स्तर के स्वत्व का दमन होता है। मनुष्य के जीवन का हेतु सदा किसी आदर्श की ओर जाना है। आदर्शहीन व्यक्ति मानवता विहीन है। जब मनुष्य के जीवन मे आदर्शवादी प्रवृतियो का दमन होता है तो उसका जीवन ही अर्थहीन हो जाता है। ऐसी अवस्था मे मनुष्य को भारी भारी मानसिक अथवा शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। प्रकृति ऐसे मनुष्य को सुखी नहीं

रहने देना चाहती, जो उसके विकास के लक्ष्य की अवहेलना करे। ऐसे व्यक्ति का जीवन शीघ्रातिशीघ्र समाप्त होजाता है।

फ्रायड महाशय ने अपनी मनुष्य की प्रवृत्तियों के दमन के सम्बन्ध मे जो धारणा बनाई थी, वह एकांगी थी। इसका कारण उनका केवल उन मानसिक रोगियो की सफल चिकित्सा का अनुभव था, जिन्हे हिस्टीरिया का रोग हुआ था। इस रोग मे अधिकतर आसक्ति अथवा कामवासना का ही दमन पाया जाता है। फ्रायड महाशय का कथन है कि मेलन्कोलिया, पेरानोइया, सीजोफ्रेनिया आदि दुसह मानसिक रोग इस लिये अच्छे नहीं किये जा सकते कि इन रोगों मे कामवासना अविकिसत रूपमे दमित रहती है। हिस्टीरिया के रोग मे कामवासना विकसित होने पर भी उसके उचित पात्र को प्राप्त न करने के कारण दमित हो जाती है। डा० फ्रायड रोगी के आरोग्य लाभ करने के लिए दमित भाव का चिकित्सक के ऊपर कुछ काल के लिए आरोपित हो जाना नितान्त आवश्यक समझते है। जो रोगी अपने चिकित्सक पर सदा संशयात्मक अथवा आलोचनात्मक मनोवृत्ति रखता है, वह उससे कुछ भी लाभ नहीं प्राप्त कर सकता। रोगी को चिकित्सक पर श्रद्धा, भक्ति, विश्वास आदि होना रोगी के अचेतन मनमे उपस्थित दमित भाव का आरोपण मात्र है। इस आरोपण से दमित भाव नैतिकता के प्रतिबन्ध को बचाकर प्रकाशित हो जाता है। चिकित्सक का यह कार्य होता है कि वह रोगी से बातचीत करके, उसे समझा बुझाकर उसके इस स्नेह को उचित पात्र के प्रति अर्पित कर दे अथवा उसका उदात्तीकरण साहित्य, कला, सङ्गीत अथवा धार्मिक कार्यों मे करे।

मानसिक द्वन्द्व, उसके दमन और उसकी समाप्ति की प्रक्रिया को समझने के लिए मनके उन विभिन्न स्तरो को जानना आवश्यक है, जिनमें वे चलते रहते हैं और मनकी उस शक्ति को भी जानना आवश्यक है, जो इस द्वन्द्व मे सहायक होती हैं। मनुष्य के चेतन मनमे हम तीन

प्रकार के तत्वों को देखते है। जब कोई व्यक्ति मानसिक द्वन्द्व की अवस्था मे रहता है, तब ये तीनो तत्व स्पष्टतः दिखाई देते है—एक भोगवादी प्रवृत्ति, दूसरी आदर्शवादी और तीसरी मनुष्य का अहंभाव अथवा उसका व्यवहारिक स्वत्व। मनुष्य के अहंभाव के समग्र द्वन्द्व चलते रहते हैं। इस द्वन्द्व मे जिस प्रवृत्ति का समर्थन मनुष्य का अहं कर देता है, वह विजयी होती है, और जिसका समर्थन वह नहीं करता वह पराजित हो जाती है। कुशल अहं का व्यक्ति द्वन्द्व करने वाली प्रवृतियो मे समन्वय स्थापित करने की चेष्टा करता है क्योकि ये दोनो ही प्रवृतियाँ उसके ही स्वभाव की अङ्ग हैं और किसी भी एक प्रवृति के निर्बल हो जाने से उसके व्यक्तित्व मे निर्बलता आने की सम्भावना रहती है। इतना ही नहीं, जब किसी प्रवृति का दमन होता है, अर्थात जब मनुष्य का स्वत्व उसकी विरोधी प्रवृति को अपना बल प्रदान करके प्रतिपक्षी का बलात् दमन करता है, तब यह दमित प्रवृति चेतना के स्तर के नीचे चली जाती है और वहाँ पहुँच कर मनुष्य के अहं के प्रति षडयन्त्र करने लगती है। यह मनुष्य के मन को विभाजित अवस्था मे बना देती है। वह यदि अकेली प्रबल न हुई तो वह अहं द्वारा दमित दूसरी उसी प्रकार की प्रवृतियों से अपना एकत्व स्थापित करके एक नया ही संगठन पैदा कर लेती है। इस प्रकार मनुष्य के मनमे द्वयव्यक्तित्व और बहुव्यक्तित्व की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

किसी प्रवृति के दमन मात्र से मानसिक रोग की उत्पत्ति नहीं होती। मानसिक रोग तभी होता है, जब इस प्रवृति का दमन मनुष्य के अहं द्वारा अथवा उसकी इच्छा शक्ति द्वारा न होकर उसके अनजाने ही किसी विरोधी भावना के द्वारा होता है। मानसिक रोग की अवस्था मे मनुष्य को न तो दमित प्रवृत्ति और न दमन करने वाली प्रवृति का ज्ञान रहता है। वह दमन के परिणाम मात्र को रोग के रूपमे जानता है। परन्तु मनुष्य दमन को यदि पूर्णतया जानना चाहे तो वह अवश्य

जान सकता है। मनुष्य का अभिमान वास्तव में इस दमन को जानना ही नहीं चाहता। वह अचेतन मन की वस्तुस्थिति से अपरिचित रहना चाहता है। दमन की गई प्रवृत्ति उसे बड़ी ही बीभत्स दिखाई देती है। अतएव वह उसे स्वीकार ही नहीं करना चाहता। वह उसे चेतना के स्तर पर आने से रोकता है। इस तरह न केवल अचेतन मन मे उपस्थित किसी भावना के कारण बीभत्स भावना का दमन होता है, वरन् मनुष्य का अहभाव भी इस दमन मे सहायक होता है। मानसिक सघर्ष के कारण जो कष्ट होता है, उसकी पीड़ा अहंभाव को ही उठानी पड़ती है। चेतन मनमे चलने वाले संघर्ष से कभी कभी मनुष्य के अहभाव को हानि होती है; परन्तु इससे लाभ भी होता है। जिस व्यक्ति के जीवन मे कोई मानसिक सघर्ष होता ही नहीं, उसकी न तो इच्छा शक्ति बलवती होती है और न उसके चरित्र का कोई विकास होता है। ऐसे व्यक्ति मे किसी प्रकार की आदर्शवादिता नहीं रहती और समाज का उससे कोई उपकार नहीं होता। चेतन मनमे चलने वाला सघर्ष जब सफलता से समाप्त होता है और अहं को सन्तोष देता है, तब व्यक्ति को उससे लाभ होता है। परन्तु जब यह संघर्ष व्यक्ति के अह की बनावट के प्रतिकूल होता है, अथवा जब इस संघर्ष से परेशान होकर व्यक्ति उसे भुला देना चाहता है, तब उसे इस सघर्ष से हानि होती है, क्योंकि यह सघर्ष मनुष्य की मानसिक शक्ति को व्यर्थ मे खर्च करता है। अचेतन मनमे चलने वाला संघर्ष मनुष्य के अह को कभी भी लाभप्रद नहीं होता। मनुष्य का कल्याण इसी बात मे है कि वह शीघ्रातिशीघ्र इस प्रकार के सघर्ष का ज्ञान कर ले और उसे चेतना के स्तर पर लाकर समाप्त करे अर्थात् वह विवेक द्वारा आदर्शवादी और भोगवादी प्रवृतियों मे समन्वय स्थापित करे।

आन्तरिक संघर्ष को समाप्त करने मे सबसे कठिन पुरुषार्थ संघर्ष करने वाली प्रवृतियों को चेतना के स्तर पर लाने का है। बहुत कुछ संघर्ष तो विरोधी प्रवृतियों के चेतना के स्तर पर आने मे ही समाप्त हो

जाता है। फिर यदि दमित प्रवृति भोगवादी हुई तो उसकी शक्ति का सदुपयोग अपने मन को रचनात्मक कार्य मे लगा कर किया जा सकता है। यह दमित प्रवृति की शक्ति का उदात्तीकरण है। यदि दमित प्रवृति आदर्शवादी अथवा नैतिक है तो उसको मान्यता देने के लिये मनुष्य उसके अनुरूप मैत्री भावना का अभ्यास कर उसकी पुष्टि कर सकता है। प्रत्येक प्रकार की नैतिकता की अवहेलना के परिणाम को दृष्टि से ओझल न कर यदि हम उसे अपने कल्याण के लिये आवश्यक मान, जान बूझ कर दण्ड के रूप मे सहन कर लें, तो इस प्रकार की प्रवृति शान्त हो जाय। जो मनुष्य अपने शारीरिक अथवा मानसिक रोग को अपने लिये शिक्षाप्रद अथवा कल्याणकारी मानता है, वह उस रोग से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। नैतिकता की अवहेलना के कारण उत्पन्न हुए मानसिक रोग जीवन मे सच्चे सदाचार की वृद्धि से, मैत्रीभावना के अभ्यास से, अन्तर्निरीक्षण की वृद्धि से समाप्त होते है। यहाँ यह बताना नितान्त आवश्यक है कि अपनी भूल को बिना पहिचाने सदाचार, शिष्टता, विनयशीलता आदिका अभ्यास करने से रोग की समाप्ति उसी प्रकार नहीं होती, जिस प्रकार दमित भोग वासना से उत्पन्न रोगों की समाप्ति उन भोगों की प्राप्ति से नहीं होती। रोग की समाप्ति के लिए पुरानी स्मृति को चेतना के स्तर पर लाना, अपनी नैतिक भूलको पहचानना और प्रायश्चित के रूपमे कुछ शुभ कार्य करना आवश्यक है। जब मनुष्य अपनी नैतिक भूल को पहचाने बिना भले कामों को करता है तो ऐसे कार्य उसके अभिमान को बढ़ाते हैं, इससे उसकी मानसिक अवस्था जैसी की तैसी बनी रहती है और रोग भी जहाँ का तहाँ रह जाता है।

सातवां प्रकरण

वासना का मनोवैज्ञानिक प्रकाशन

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि जब मनुष्य की प्रबल इच्छाओं का दमन होता है, तो उसके व्यक्तित्व का विकास रुक जाता है। इसके कारण मनुष्य को अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। हठी विचार, चिन्ता, अकारण भय, विशेष प्रकार की झक, आचरण मे असाधारणता आदि बातें दमित इच्छाओं के परिणाम स्वरूप होती है। किसी प्रकार की प्रबल वासना के दमन के परिणाम स्वरूप मनुष्य अपनी दमित वासना का आरोपण किसी दूसरे व्यक्ति पर करता है और जो भाव अथवा दोष उसके ही मनमे दमित अवस्था मे उपस्थित है उसको वह दूसरे व्यक्ति में देखने लगता है। वह ऐसे व्यक्ति की आलोचना करता है और उससे घृणा करता है। इस तरह कभी कभी तपस्वी व्यक्ति में अपनी वासना के दमन के कारण वासनायुक्त लोगों को घृणा करने की प्रवृति, उनका छिद्रान्वेषण करने और उनका सुधार करने की प्रवृति पायी जाती है। कभी कभी ऐसे लोग अपनी इस घृणा को विवेकयुक्त सिद्ध करने के लिए कहते हैं कि पापी को घृणा मत करो परन्तु पाप को घृणा अवश्य करो। यह भी एक प्रकार की आत्म-प्रवञ्चना है। हम दूसरे व्यक्ति मे उसी बात को घृणा करते हैं, जो स्वयं हमारे अचेतन मनमे वर्तमान है और किसी समय हमारे व्यक्तिस्व को हानि पहुँचा सकती है, अर्थात हमारे आत्मसम्मान को ठेस पहुँचा सकती है। दूसरे व्यक्ति में उपस्थित वासना को घृणा की दृष्टि से देखकर हम अपनी ही घृणित वासना को चेतना के स्तर पर

आने से रोकने का प्रयत्न करते हैं, अर्थात् उसका दमन करने की चेष्टा करते हैं। परन्तु इस प्रकार छिपी हुई वासना का अन्त नहीं होता, वह और भी प्रबल हो जाती है।

दबी हुई वासना को प्रकाशित करके ही उससे हम मुक्त हो सकते हैं। दमित वासना का प्रकाशन दो प्रकार से हो सकता है—आचरण के द्वारा और मनोवैज्ञानिक प्रकाशन द्वारा। आधुनिक मनोविज्ञान के कुछ पण्डितों ने दमित वासना के प्रकाशन का पहला उपाय बताया है। फ्रायड महाशय के कुछ अनुयायियों ने इसे मानसिक रोग के निराकरण के लिए नितान्त आवश्यक समझा है। मनुष्य की अनेक दमित वासनायें असामाजिक और अनैतिक होती हैं। यदि इन वासनाओं को स्वतन्त्रतापूर्वक मनुष्य के व्यवहार मे प्रकाशित होने दिया जाय तो समाज मे भारी उथल-पुथल मच जाय। इनका स्वतन्त्र प्रकाशन सम्भव ही नहीं। यदि इनका स्वतंत्र प्रकाशन किया जाय तो सामाजिक जीवन ही असम्भव हो जाय। अतएव दमित वासनाओं का आचरण मे प्रकाशित करना न तो उपादेय है और न सम्भव। जहाँ तक इस प्रकार के प्रकाशन की छूट समाज के कुछ व्यक्तियों को दी जा रही है, समाज का नैतिक स्तर नीचे गिरता है और समाज मे अव्यवस्था फैलती है।

मानसिक आरोग्य की दृष्टि से दबी वासना का आचरण में प्रकाशन नये प्रकार की मानसिक झंझटों को उत्पन्न करता है। मनुष्य की दमित वासनायें उसके बचपन के जीवन से सम्बन्ध रखती हैं। वे व्यक्ति के बाल्यकाल मे ही दमित हो जाती हैं। यदि मनुष्य अपनी उन बचपन की इच्छाओं को फिर से चरितार्थ करने लगे तो वह आचार-व्यवहार मे बालक जैसा ही बन जायगा। परन्तु प्रकृति का नियम है कि मनुष्य मानसिक विकास की जिस अवस्था को पार कर चुका है, उसमें फिर से वह नहीं जा सकता। दमित वासनायें अतीत काल की मानसिक स्थिति की होती हैं। वे जब मनुष्य की प्रगति में बाधायें उत्पन्न करती हैं

तब मनुष्य दूसरी ही मानसिक स्थिति मे रहता है। अतएव यदि हम बचपन की दमित इच्छाओं को किसी प्रकार वर्तमान काल मे प्रकाशित करते हैं, तो हमें यह ध्यान रखना होगा कि यह प्रकाशन वर्तमान मानसिक अवस्था के अनुरूप हो। जीवन मे स्वस्थ रहने के लिये यह आवश्यक है कि हम पूर्णता की ओर प्रगति करे और अपने आचरण और व्यवहार में प्रतिगामी न बनें।

इस प्रसंग मे आधुनिक काल के एक प्रमुख मनोवैज्ञानिक हेड फील्ड महाशय का 'साइकोलाजी एण्ड मारल्स' नामक पुस्तक मे लिखित विचार उल्लेखनीय है। "मानसिक स्वास्थ की पहली आवश्यकता यह है कि हम जीवन के हरेक पहलू मे आगे बढ़े। जैसे जैसे हम इस प्रकार आगे बढ़ते हैं, हम अपने आपमे नवजीवन की स्फूर्ति पाते है, परन्तु हम बाल्यकाल की सरलता से वंचित हो जाते है। जो मनुष्य पचास वर्ष की अवस्था मे किशोर बालक जैसा व्यवहार करता है, वह अपने आपको दयनीय अवस्था का बना लेता है। जब पचास वर्ष की बुढ़िया एक किशोर बालिका जैसी चहकती हुई बातचीत करती है, तब वह अपने मनमे भले ही अपने आपको शोभनीय समझे, परन्तु उसका व्यवहार दूसरों को वीभत्स ही दिखाई देता है।" प्रत्येक वस्तु अपने ही स्थान मे शोभनीय होती है। अपने स्थान को छोड़कर वह अशोभनीय बन जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन की पहली अवस्था को छोड़ना नई अवस्था पाने के लिए अथवा अपना विकास करने के लिये नितांत आवश्यक है। पुरानी अवस्था की इच्छाओं को छोड़ना जीवन के विकास के लिए उतना ही आवश्यक है, जितना आवश्यक पुरानी अवस्थाओं की इच्छाओं को उसी अवस्था मे रहते हुए पूरा करना आवश्यक है। कभी कभी मनुष्य अपने मानसिक विकास की अवस्था के पार जाने मे जल्दी करने की चेष्टा करता है। इसके कारण मनुष्य का प्राकृतिक विकास नहीं होता। उसकी प्राकृतिक इच्छायें, अतृप्त रह जाती

हैं और फिर वे मन को पुरोगामी न बनाकर प्रतिगामी बना देती हैं। मनुष्य की बचपन की वासनाओं का दमन होने पर वे अविकसित रूपमे उसके अचेतन मनमे बनी रहती हैं। इसके कारण उसके आचार-विचार के दोष उत्पन्न होते हैं और उसका स्वास्थ बिगड़ता है।

अब प्रश्न यह है कि इन दमित इच्छाओं की समाप्ति कैसे हो? मनुष्य जब प्रौढ़ावस्था मे आ जाता है, तब वह अपने बचपन की इच्छाओं को प्राकृतिक रूपसे तृप्त नहीं कर सकता अर्थात् वह उन्हे अपने आचरण मे प्रकाशित नही कर सकता। इससे उसके जीवन मे नयी मनोवैज्ञानिक समस्यायें उत्पन्न हो जाती है। जो प्रौढ़ व्यक्ति किशोरावस्थाकी इच्छाओं को किशोर बालक जैसा ही प्रकाशित करता है, वह एक मूर्ख के समान आचरण करता है। वह इस प्रकार के आचरण से अपने मानसिक सन्तोष को नहीं बढ़ाता, वरन् वह अपने आपको और दुखी बना लेता है। कितने ही लोगों के मनमे बचपन की अनेक प्रकार की विकृत कामवासना सम्बन्धी इच्छायें दमित अवस्था मे रहती हैं। इस प्रकार की इच्छाओं के स्वच्छन्दता पूर्वक प्रकाशन से मनुष्य अपने मानसिक द्वन्द्व को समाप्त नहीं करता, उसे अपने पुराने द्वन्द्व से कुछ राहत भले ही मिल जाय, उसके मनमे अब नये प्रकार के द्वन्द्व उत्पन्न हो जाते हैं। परन्तु वर्तमान नैतिकता की अवहेलना करके मनुष्य सुखी न होकर और दुखी ही होता है।

इस प्रसंग मे हेड फील्ड महाशय का "साइकालाजी एंड मारल्स" नामक पुस्तक मे दिया हुआ निम्नलिखित विचार उल्लेखनीय है। "दमित कामवासना को अपने आचरण मे प्रकाशित होने की छूट देने से हम अपने मानसिक द्वन्द्व को समाप्त नहीं करते, हम केवल उसका रूप बदल देते हैं। जब मनुष्य के मन में कामवासना का दमन होता है, तब दमन करने वाली शक्ति प्रायः मनुष्य की नैतिक बुद्धि ही होती है। यह नैतिक बुद्धि मनुष्य की चेतना के स्तर के नीचे दमन का कार्य करती है।

अब यदि हम किसी व्यक्ति को उसकी कामवासना का आचरण में प्रकाशन की सलाह देते हैं तो हम उसके मानसिक द्वन्द्व की अवस्था को कम न कर बढ़ा ही देते हैं, क्योंकि जहाँ पहले प्रकार के द्वन्द्व में कामवासना दमित अवस्था मे थी और उसका दमन मनुष्य की नैतिक बुद्धि कर रही थी, अब मनुष्य की नैतिक बुद्धि दमित अवस्था मे हो जाती है और कामवासना ही प्रधान बन जाती है। इससे मानव जीवन की समस्या हल नहीं होती। इससे केवल एक प्रकार के दमन का स्थान दूसरे प्रकार का दमन ले लेता है और यह दमन पहले के दमन से अधिक बुरा होता है। इस दमन में मनुष्य का सम्पूर्ण व्यक्तित्व, जिसकी प्रतीक उसकी नैतिक बुद्धि है, एक ही प्रबल प्रवृत्ति के द्वारा दमित होता है। इस प्रकार के अनुभव से मनुष्य अपने आपसे निराश हो जाता है। जो मानसिक चिकित्सक रोग को समाप्त करने के लिये रोगी को स्वच्छन्दता पूर्वक काम-व्यसन मे पड़ने की सलाह देता है, वह रोगी की भारी क्षति करता है और वह रोगी की मनोवैज्ञानिक समस्या हल करने मे अपनी अयोग्यता सिद्ध करता है। इस प्रकार की सलाह न केवल नैतिकता की दृष्टि से अनुचित है, वरन् मानसिक आरोग्य की दृष्टि से भी हानिकारक है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानसिक स्वास्थ की दृष्टि से दमित वासनाओं का आचरण मे प्रकाशन मनुष्य के हित के लिये लाभकारक नहीं है। इसके लिये उनका मनोवैज्ञानिक प्रकाशन ही लाभकारक है। वासना का मनोवैज्ञानिक प्रकाशन अपने अचेतन मन मे उपस्थित नैतिक प्रतिबन्ध शिथिल करने से होता है। नैतिक प्रतिबन्ध के इस प्रकार शिथिल होने से दबी हुई मानसिक प्रवृत्ति चेतना की सतह पर आ जाती है और इससे उसकी शक्ति समाप्त हो जाती है। इसका अर्थ है कि मनुष्यको अपनी वासना के प्रति अपने दृष्टिकोण मे परिवर्तन करना होगा। मनुष्य की सभी कठिनाइयों की जड़ बाहरी परिस्थिति मे नहीं, वरन्

उसके मनमे ही है। मनुष्य अपनी मानसिक जटिलता के कारण दूसरों के साथ संघर्ष मे आता है। विवेकशील मनुष्य इस प्रकार के संघर्ष के उपस्थित होने पर अपने मन की छानबीन करने लगता है और वह अपने मनमे उस ग्रन्थि की खोज करने की चेष्टा करता है, जिसके कारण जटिल परिस्थिति वातावरण में उपस्थित हुई। इस प्रकार की खोज से न केवल मनुष्य की वाह्य समस्या का हल हो जाता है, वरन् उसकी जनक मानसिक ग्रन्थि की भी समाप्ति हो जाती है। जब मनुष्य के मनमें उपस्थित मानसिक ग्रन्थि का निराकरण हो जाता है, तब उसका दूसरों के प्रति व्यवहार सरल और सहानुभूति पूर्वक हो जाता है, उसकी दूसरों की आलोचना करने की मनोवृति समाप्त हो जाती है, और वह उनकी कमजोरियों को उदारता की दृष्टि से देखने लगता है। उसकी दूसरों के प्रति घृणा की मनोवृति समाप्त हो जाती है।

वासना के दमन से घृणा की मनोवृत्ति उत्पन्न होती है। यह अपने आन्तरिक मन के विषय मे ज्ञान न होने के कारण होती है। जब कोई मनुष्य किसी व्यभिचारी को, कंजूस को अथवा किसी खास मनुष्य को घृणा करता है, तब वह वास्तव मे अपने मनमे उपस्थित इसी प्रकार के भावों को भी घृणा करता है। दूसरे को घृणा करना अपने आप से घृणा करने की अपेक्षा कम दुखद होता है। अतएव मनुष्य अपने दमित मनोभावो को दूसरों पर आरोपित करके उनके प्रति वही धारणा प्रकट करता है जो वह इस प्रकार के आरोपण के अभाव मे अपने आपके प्रति करता। वासना के अचेतन मनमे उपस्थित रहते हुए यदि किसी मनुष्य की आरोपण की मनोवृत्ति समाप्त कर दी जाय तो उसे जीवन भार रूप हो जाय। कभी कभी वह अपनी मानसिक घबड़ाहट से बचने के लिये रोग का आवाहन करता है और वह इस से रोगी बन जाता है। यह अपने आपको घृणा करने की मानसिक प्रक्रिया का परिणाम है। जब मनुष्य की अनैतिक वासना समाप्त हो जाती

है तब उसमें दूसरो को घृणा करने की अथवा उनकी आलोचना करने की कोई प्रेरणा नहीं रह जाती है।

जब तक मनुष्य को अपने ही मन की स्थिति का ज्ञान नहीं होता अर्थात् जबतक वह अपनी दमित वासना को नहीं जान लेता, उसकी दोषा-रोपण की मनोवृत्ति अथवा रोगों के आवाहन करने की मनोवृत्ति समाप्त नहीं होती। अतएव इस प्रकार की मानसिक अस्वस्थ्यता को हटाने का प्रथम उपाय अपने मनके विषय मे ज्ञान बढ़ाना है। दूसरा उपाय उन लोगों को सहानुभूति की दृष्टि से देखना है, जिन्हे हम पहले घृणा करते थे। यदि हम यह जान लें कि जिस बात के लिये हम दूसरे लोगों को आलोचना की दृष्टि से देखते हैं, वह वास्तव मे हम ही मे उपस्थित है तो हम दूसरों को सुधारने की चेष्टा करने की अपेक्षा अपने आप को सुधारने का उपाय सोचेंगे। जब हम किसी मनुष्य की कमजोरी के प्रति सहानुभूति दर्शाते हैं तो हम अपनी ही उसी प्रकार की कमजोरी को समाप्त कर देते हैं। यह अपनी दमित वासना का आचरण मे प्रकाशन न करके उसका मनोवैज्ञानिक प्रकाशन करना है।

प्रत्येक मनुष्य को सहानुभूति द्वारा सुधारने की चेष्टा करने से सुधारक स्वय सुधर जाता है। सहानुभूति के कारण सुधारक का आत्मसात् उस व्यक्ति के साथ हो जाता है, जिसे वह सुधारना चाहता है और जैसे जैसे इस व्यक्ति मे परिवर्तन होता है, सुधारक मे भी अपने आप ही आन्तरिक परिवर्तन हो जाता है। किसी रोगी के मानसिक रोग से सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए उसकी सहायता की चेष्टा करने से मनुष्य अपने आप मे उपस्थित उसी प्रकार के मानसिक रोग की जड़ को समाप्त कर देता है। जैसे जैसे मानसिक रोगी के मन मे आत्मसमन्वय स्थापित होता है, वैसे वैसे चिकित्सक के मन मे भी आत्मसमन्वय का भाव बढ़ता जाता है और उसमे इच्छा शक्ति की दृढ़ता बढ़ती जाती है। हम किसी प्रकार की जटिल आदतों मे फसे व्यक्ति को उनसे मुक्त होने मे सहायता

देकर उसी प्रकार की जटिल आदतों से अपने आप भी मुक्त हो सकते हैं। बालकों को सहानुभूति पूर्वक सुधारने की चेष्टा करने से प्रौढ़ व्यक्ति स्वय सुधर जाते हैं। इस प्रकार के प्रयत्न से सुधारक की दमित वासनाओं का मनोवैज्ञानिक प्रकाशन होता है।

किसी व्यक्ति को सहानुभूतिपूर्वक सुधारने की चेष्टा करना एक बड़ा कठिन कार्य है। यह कार्य बड़ा ही धार्मिक और पवित्र है। इसे करने का सामर्थ्य विरले हीं व्यक्ति मे रहता है। अधिक सुधारक नैतिक शिक्षा देने वाले होते हैं। इच्छा शक्ति के दुर्बल व्यक्ति को नैतिक उपदेश देना व्यर्थ ही नहीं अपितु हानिकारक है। इससे उसकी आत्मग्लानि की मनोवृत्ति और भी बढ़ जाती है। इस प्रकार की नैतिक शिक्षा देने वाला व्यक्ति स्वयं अपने आप को घृणा करता है। इस प्रकार के नैतिक उपदेश हमें दूसरों को न देकर अपने आपको ही देना चाहिये। जब हम दूसरो को नैतिक उपदेश देने लगते हैं तब हम अपने अनजाने ही अपने आपको दूसरो से ऊँचे मान लेते हैं। इस प्रकार की मनोवृत्ति से हमारी दमित प्रवृतियों का मनोवैज्ञानिक प्रकाशन नहीं होता। दूसरों को उपदेश देने की प्रवृति से मनुष्य का आत्मज्ञान नहीं बढ़ता इससे उसकी मानसिक ग्रन्थियाँ सुलझ न कर और भी जटिल हो जाती है।

दमित इच्छाओं के मनोवैज्ञानिक प्रकाशन का एक सर्वोत्तम साधन मानसिक रोगियो की चिकित्सा करना है। किसी भी मानसिक रोगी का रोग तब तक नहीं जाता जब तक वह अपने घृणित विचारों अथवा भावों को चेतना की सतह पर नहीं लाता। मानसिक रोगी में आत्म-स्वीकृति करने की क्षमता का अभाव रहता है। वह सदा अपने आपको भुलाने की चेष्टा करता रहता है। कितने ही मानसिक रोगी अकेले रह ही नहीं सकते। जब भी वे अकेले रह जाते हैं तव उनके दमित विचार भयङ्कर रूप धारण कर उनकी चेतना मे आते हैं। रोगियों को इस प्रकार के दमित भावो को चेतना की सतह पर लाने के लिये प्रोत्साहित किया जाता है।

उनकी प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ दमित होकर ही भयंकर रूप धारण करती है। जब रोगी अपनी वासना की अथवा अपनी आत्म-ग्लानिजनक स्मृति की आत्म-स्वीकृति चिकित्सक के समक्ष करता है तब उसके चेतन और अचेतन मनमे एकता स्थापित हो जाती है और उसके रोग की समाप्ति हो जाती है। किसी भी रोगी से इस प्रकार की आत्म-स्वीकृति कराना साधारण कार्य नहीं है। हम अपने आप महान् और पवित्र बने रहकर दूसरे व्यक्ति से उसकी कमजोरियो को स्वीकार नहीं करा सकते हैं। जैसा कि चार्ल्स युंग महाशय ने अपनी "एनालाइटिकल साइकालोजी" नामक पुस्तक मे बताया है कि मानसिक चिकित्सक रोगी को स्वास्थ्य लाभ कराने मे तभी समर्थ होता है जब वह निरभिमान होकर रोगी के समक्ष स्वय आत्म-स्वीकृति करता है। इस प्रकार न केवल रोगी की वासनाओं का मनोवैज्ञानिक प्रकाशन हो जाता है वरन् चिकित्सक की वासनाओ का भी मनोवैज्ञानिक प्रकाशन हो जाता है, मानसिक रोगो की समाप्ति वास्तव मे आचरण के परिवर्त्तन से नहीं, वरन् अपनी धारणाओं को बदलने से और दमित वासनाओं के मनोवैज्ञानिक प्रकाशन से होती है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि मनुष्य जहाँ तक दूसरे लोगो की किसी प्रकार की कमजोरी अथवा उनके मानसिक रोग से सहानुभूति प्रकट करता है वहाँ तक वह उसी प्रकार की अपनी कमजोरी अथवा मानसिक रोग की सम्भावना से मुक्त हो जाता है। यह अपने आपको शुद्ध करने का सरल उपाय है। इससे मनुष्य की दमित इच्छाओ का ज्ञान हो जाता है। फिर वे भयकर रूप लेकर चेतना की सतह पर न आकर व्यक्तित्व की सहायक शक्तियाँ बन जाती है। यदि किसी व्यक्ति के जीवन का नैतिक स्तर ऊंचा है, तो उसे अपनी विकृत वासना के प्रकाशन द्वारा नैतिक स्तर को नीचा करने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु जो व्यक्ति हमारे नैतिक स्तर तक ऊँचे नहीं उठ सकते उनके प्रति भी सहानुभूति का अनुभव करना हमे आवश्यक है।

प्रत्येक सन्त के मनमें वे ही पाशविक प्रवृतियाँ अप्रकाशित अवस्था मे रहती है जो किसी दुराचारी और व्यभिचारी व्यक्ति के मनमे रहती हैं। सन्त पुरुष इसके कारण ऐसे व्यक्ति से घृणा न कर उससे आत्मीयता का अनुभव करता है और वह इस प्रकार अपने ही अदृश्य मन का साक्षात्कार कर लेता है। इस प्रकार के साक्षात्कार करने से वह अपनी इन मानसिक शक्तियों को अपना शत्रु न बनाकर उन्हे अपना मित्र बना लेता है। फिर ये शक्तियाँ उसकी इच्छा शक्ति के वश मे आ जाती है और वे उसके व्यक्तित्व का विभाजन न कर उसके चरित्र का बल बढ़ाती हैं तथा उसके जीवन को सफल बनाने मे सहायक होती हैं।

मानसिक व्याधियों की समाप्ति रोगी द्वारा उनके कारण जानने से और दमित शक्ति के सदुपयोग से होती है। व्याधि के कारण को जानना भी एक बड़ा कठिन कार्य है। कारण का ज्ञान होना दमित वासना का चेतना की सतह पर आना है। यह उसका पहला मनोवैज्ञानिक प्रकाशन है। जब तक दमित वासना के प्रति हमारा दृष्टि विन्दु परिवर्तित नहीं हो जाता वह वासना चेतना के सतह पर ही नहीं आती अर्थात् हमे उसकी उपस्थिति का ज्ञान नहीं होता। जब हमे किसी अभद्र वासना की उपस्थिति का ज्ञान हो जाता है तब उसका साथ ही साथ स्वभाव भी बदल जाता है। वह वासना फिर मनुष्य के व्यक्तित्व की शत्रु न बनकर मित्र बन जाती है। मानसिक चिकित्सक का मुख्य कर्तव्य रोगी के अपने वासनाओ के प्रति दृष्टि विन्दु को इस प्रकार परिवर्तित करने मे है जिससे वह अपने दमित भावों की आत्म-स्वीकृति कर सके। आत्मस्वीकृति अपने आप मे परिवर्तन स्वतः ले आती है।

—:०:—

आठवाँ प्रकरण

सफाई और आरोग्य

यह हम सभी लोग जानते हैं कि जहाँ गन्दगी रहती है, रोग के कीटाणु वहाँ उपस्थित हो जाते हैं और वातावरण मे फैलकर आसपास रहनेवाले लोगों को रोगी बनाते हैं। वर्तमान समय की ग्राम सुधार योजना का एक प्रमुख अंग गाँव की सफाई है। अनेक विद्वान नागरिक गाँव मे जाकर, गाँव की सफाई का काम गाँव के लोगों को लेकर करते हैं। इस प्रकार की सफाई से गाँव के लोगों का आरोग्य बढ़ता है और उनमे आजीविका कमाने की क्षमता बढ़ जाती है। शरीर की, घर की, गली कूचो की और तालाबों की सफाई होना आरोग्य लाभ के लिए नितान्त आवश्यक है।

उपर्युक्त बातें मनुष्य के लिये बहुत ही हितकर है। परन्तु जिन बातों को हम भूल जाते है, उनको याद दिलाना भी आवश्यक है। मनुष्य की शारीरिक और वातावरण की गन्दगी से मनुष्य को जो हानि होती है, उससे कहीं अधिक हानि मनुष्य को मन की गन्दगी से होती है। इससे मनुष्य न केवल अपना शारीरिक स्वास्थ्य खो देता है, वरन् वह सदा आत्मग्लानि, चिन्ता, अकारण भय और निराशा की वेदना मे रहकर अपने जीवन को मृत तुल्य कर लेता है। जिस मनुष्य का मन गन्दा है, वह बाहरी सब प्रकार की सफाई रखकर भी, न अपने आप सुखी रहता है और न समाज का सुख बढ़ाता है। मन के गन्दे व्यक्तियों को सब प्रकार की ऊपरी सफाई रखते हुए भी गन्दे शारीरिक रोग अथवा छूत के रोग आ जाते हैं। हमारा मानसिक चिकित्सा का अनुभव बताता है कि बहुत से एक्जमा के रोगियों में अपने आप के प्रति अथवा अपने समीप के सम्बन्धी के प्रति प्रबल घृणा की भावना रहती है। जब

तक इस घृणा की भावना का मनुष्य त्याग नहीं करता, उसका रोग नहा जाता। इसी प्रकार अपने आप को घृणा करनेवाले व्यक्ति को अर्थात् अपने को अभागा माननेवाले व्यक्ति को क्षय रोग हो जाता है। अपने प्रेमी से उचित प्रेम न मिलने पर मनुष्य को दमा का रोग हो जाता है।

अपरस का रोग मानसिक खुजलाहट का शारीरिक खुजलाहट मे परिणत हो जाना है। हमारे यहाँ कई ऐसे रोगियों की सफल चिकित्सा मैत्री भावना के अभ्यास और आत्म रेचन से हुई है*। क्षय रोग को प्राकृतिक चिकित्सा के विशेषज्ञ लिंडलहर महाशय ने आत्मभर्त्सना का परिणाम माना है। आत्मभर्त्सना मन का क्षय है। यही शारीरिक क्षय का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार का एक रोगी, जो नासिक (मिराज) के क्षय रोग के सेनीटोरियम से वापस आकर काशी विश्वविद्यालय की एम. ए. की कक्षा मे पढ़ रहा है, आत्मग्लानि के भाव से पीड़ित था। वह इसे विस्मृत कर चुका था। उसके स्वास्थ्य लाभ करने मे वाह्य उपचार की अपेक्षा मानसिक रेचन प्रधान कारण था। क्षय का रोगी आन्तरिक मन से मृत्यु का आवाहन करता है। जब तक उसकी मृत्यु की यह आन्तरिक इच्छा नष्ट नहीं होती, तबतक उसका रोग नहीं जाता। इस इच्छाके नष्ट होनेके लिए मन मे एकत्रित गन्दगीको साफ

---

* आज से पाँच वर्ष पूर्व एक नवयुवक को मानसिक रोग हो गया था। वह सोचता था कि सभी लोग उसे चोर समझते हैं। इस युवक को हाथ मे एक्जमा का रोग भी था। उसका एक्जमा का रोग केवल मैत्री भावना के अभ्यास से जाता रहा। वह अपनी स्त्री से घृणा करता था। इसके अन्त होते ही उसका अपरस (एक्जमा) का रोग जाता रहा। एक दूसरे नवयुवक को पैर मे एक्जमा का रोग था। यह अपनी ससुराल और विशेषकर ससुर से घृणा करता था। इस घृणा का रेचन होने पर उसका रोग जाता रहा।

करना आवश्यक है। यह गन्दगी मानसिक रेचन की क्रिया से साफ होती है।

दमा को पाल शिल्डर महाशय ने सांकेतिक रूपसे श्वास समाप्ति करना कहा है। यह माताकी कोख मे चले जानेकी इच्छाका प्रतीक है। अर्थात् दमा के रोगी का आन्तरिक मन किसी कारण वश मृत्युका आवाहन करता है। जबतक उसके आन्तरिक मनकी सफाई नहीं होती, उसका रोग नहीं जाता। जब मन को अनेक प्रकार की चिन्ताएँ त्रास देती हैं, तो मनुष्य ऊपर से जीनेका इच्छुक रहते हुए भी आन्तरिक मन से जीनेका इच्छुक नहीं रहता। ऐसे व्यक्ति को कोई न कोई जटिल रोग पकड़ लेता है।

बवासीर के रोगमे मनुष्यमे दबे घृणा के भाव अपनेसे नीचे व्यक्तिके प्रति रहते हैं। अनेक प्रकारके आँखके रोग, ईर्ष्या और क्रोधके विचारोंको मन मे स्थान देनेसे आ जाते हैं। कभी कभी आँखका अन्धापन भी इससे आ जाता है। * जिस व्यक्तिका जीवन भार रूप बन गया है, उन्हे गठिया बात पकड़ लेती है। ऊपरी मन यहाँ अपने हौसले बढ़ाते जाता है, परन्तु जब आन्तरिक मन सहयोग नहीं देना चाहता। घुटनेकी पीड़ा (साइटिका) के रोगी एक ओर वृद्ध होते हैं और दूसरी ओर वे बड़े बड़े हौसले भी रखते है तथा नई नई योजनाएं बनाते रहते हैं। मनुष्यको अत्यधिक लोभ

---

* अभी कुछ दिन पूर्व एक विद्यार्थी मनोविज्ञान शालामे आँख के रोग से पीड़ित होकर आया था। उसे भय था कि वह अंधा हो जावेगा। कभी कभी वह वास्तव मे अपने आसपास कुछ नहीं देखता था। डाक्टर लोग उसकी आँख से कोई दोष नहीं पाते थे। उसके मनो-विश्लेषणसे पता चला कि उसे अपने चाचाके प्रति प्रबल घृणा की भावना थी। इस भावना का आत्म-स्वीकृति होने पर रेचन होने से और मैत्री भावना के अभ्यास के द्वारा उसका अन्धेपन का भय समाप्त हो गया।

से मुक्त करने के लिये यह रोग हो जाता है। मनुष्य का आन्तरिक मन इस प्रकारके भार को देर तक नहीं सह पाता और वह इसे शीघ्रातिशीघ्र रोग के रूपमे बाहर निकाल देता है।

उपर्युक्त कथनका तात्पर्य यह है कि जटिल रोगोंको हटाने के लिये हम रोगके केवल बाहरी उपचार मे न लग जायँ। पश्चिम के सर्वोच्च विद्वान भी इस निष्कर्ष पर आ रहे हैं कि मनुष्य जितना ही अपना जीवन प्राकृतिक बनाता है और अभिमान से मुक्त होता है, उतना ही वह आरोग्य प्राप्त करता है। हालही मे लेखकको राजर्षि श्रीपुरुषोत्तम दास टण्डनने एक पश्चिमके बड़े डाक्टरके महत्वपूर्ण मतको बताया। उसने कहा है कि यदि ससारकी दवाई की सभी आलमारियाँ समुद्रमे डुबो दी जाएं तो इससे मछलियो का तो नुकसान होगा, परन्तु मानव समाजका कोई भी नुकसान न होगा। एडवर्ड कारपेन्टर ने बताया है कि जब डाक्टरोंकी वृद्धि होती है, तो रोगोंकी भी वृद्धि होती है। बीमार पड़ने पर मनुष्य सरलता से दवा पा लेता है। वह अपने असंयम के लिये दण्ड नहीं भोग पाता। इसके परिणाम स्वरूप उसमे आत्म-नियन्त्रण की शक्ति नहीं आती। फिर बार-बार दवा खानेसे वह अपनी रोगको रोक सकने की शक्तिको ही खो देता है। दवा के आदी व्यक्ति को दवा शीघ्र लाभ नहीं पहुँचाती। उसे दवा ही भोजन बन जाती है।

जिस व्यक्ति मे मानसिक नियन्त्रण नहीं है, वह वातावरण के बुरे-विचारों को अपने मनमे आनेसे रोक नहीं पाता। ऐसे व्यक्ति का मन कूड़ाखाना बन जाता है। यहाँ अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोगों के कीटाणु उत्पन्न होते रहते हैं। जब इन कीटाणुओंका उत्पन्न होना नहीं रोका जाता, बाहरी भौतिक कीटाणुओंको शरीरमे प्रवेश करनेसे रोकनेसे व्यक्तिका मौलिक लाभ नहीं होता। फिर जो कीटाणु हमारी असावधानी के कारण मनमे घुस चुके हैं, उनसे मनको मुक्त करना भी आवश्यक है। यही मानसिक सफाई है।

अभी हालकी बात है कि मनोविज्ञान शालामें एक भले परिवार का युवक मनोवैज्ञानिक सलाह के लिए आया। उसे कुछ दिन पहले सूजाक का रोग हो गया था। रोग अच्छा हो चुका था, परन्तु उसे भय लगा रहता था कि फिर से वह रोग उसे न हो जाय। डाक्टर के लाख आश्वासन देने पर भी उसे विश्वास नहीं होता था कि उसका रोग जड़से चला गया है। वह इस विचार से इतना दुखी था कि कुछ काम नहीं कर पाता था। यह विश्वविद्यालय की सर्वोच्च कक्षा का विद्यार्थी है। उसमे एक ओर प्रबल नैतिक भावनायें हैं और दूसरी ओर प्रबल कामवासना। वह जानता था कि उसका रोग बिना मनोवैज्ञानिक चिकित्सा के नहीं जायगा। यहाँ उसने अपने रोग के सच्चे कारण को बताया। उसने रोग वेश्या-गमन से पाया था। उसने उसकी सारी कहानी बताई। फिर इससे भी कोई अधिक लाभ नहीं हुआ। उससे अपने जीवन की सभी बातों को कहने को कहा गया तथा स्वप्नोंको लिखवाया गया। इनसे पता चला कि इस युवक में बचपन की दमित समलिंगी व्यभिचार की भावना वर्तमान है। इसके कारण वह कभी-कभी भारी आत्मग्लानिका अनुभव करता है। वह समाज मे बड़ा सच्चरित्र माना जाता है। इसके कारण उसका आन्तरिक मन उसे कोसता रहता है। उसका वर्तमान रोग इन कलुषित मनोभावो का परिणाम है।

मन की सफाई और शरीर की सफाई मे बड़ा विलक्षण सम्बन्ध है। हमारी साधारण धारणा है कि यदि किसी मनुष्य का शरीर साफ है और वह अपने आसपास की सभी वस्तुयें साफ रखता है तो उसका मन भी साफ होगा। यह बात बहुत दूर तक ठीक भी है। परन्तु कभी कभी बाहरी सफाई और मन की सफाई मे पारस्परिक विरोध रहता है। जो व्यक्ति अपने मन की गंदगी के कारण बेचैन रहते हैं, वे बाहरी सफाई पर अत्यधिक जोर देते रहते हैं। यह बाहर की सफाई उन्हें आन्तरिक सफाई की आवश्यकता को भुला देती है। कितने ही लोगों की बाहरी

सफाई आन्तरिक गंदगी का आवरण होती है। अपनी आन्तरिक गंदगी बाहरी गंदगी पर आरोपित हो जाती है और मनुष्य अपने क्लेश का वास्तविक कारण भुला कर झूठे कारण को हटाने मे लग जाता है। जिस प्रकार छोटी छोटी नैतिक भूलो के प्रति सदा सतर्क रहने वाले व्यक्ति ही बिना हिचक के जघन्य अपराध कर डालते हैं, इसी प्रकार बाहरी गंदगी से अत्यधिक परेशान व्यक्ति बड़े गदे भावनाओं को मन मे स्थान दिये रहते है। इस गदगी का उन्हें ज्ञान नहीं रहता* ।

मानसिक रोग की अवस्था मे व्यक्ति को सफाइ की वेहद झक हो जाती है। टट्टी जाने के बाद वह बीसो बार हाथ साफ करता है परन्तु उसे हाथ गन्दे ही दिखाई देते है। कई बार नहाने के बाद भी वह अपने आपको अशुद्ध ही अनुभव करता है। इस प्रकार का एक रोगी सबेरे से दोपहर तक स्नान ही करते रहता था। एक दूसरे रोगी को जहां तहां मैला पड़ा दिखाई देता था। वह प्रत्येक गन्दी वस्तु को देख कर भय भीत हो जाता था। जब तक वह वहा से हटा न दी जाती, वह वहाँ बैठ नहीं सकता था। एक दूसरे रोगी की आँख बरबस गन्दे कागज, चिथड़े आदि पर चली जाती थी और प्रयत्न करने पर भी वह अपनी दृष्टि को वहां से हटा नही पाता था।

इस प्रकार की गन्दगी से बेचैनी का कारण दमित काम वासना के

---

* लेखक के एक मित्र की पत्नी को बहुत दिन से दमा का रोग है। इस रोग के कारण न केवल वह अपने आप परेशान रहती है, परन्तु पति और घर के दूसरे लोगों को परेशान रखती है। उसको सफाई की भारी फिक्र लगी रहती है। कपड़े लत्ते, बर्तन और घर को सदा धुलवाती रहती है। उसके आन्तरिक मन मे अपने पति के प्रति पुराना असतोष का भाव है। उसका विश्वास हो गया था कि उसका पति उससे अधिक अपनी भाभी को प्यार करता है।

भाव रहते हैं। जो लोग काम कृत्य को बड़ा गन्दा मान कर उसे घृणा के भाव से दबाते हैं उन्हे काम वासना गन्दे पदार्थों पर आरोपित होकर तग करती है। जब मनुष्य अपने काम वासना सम्बन्धी कृत्यों को किसी व्यक्ति के प्रति स्वीकार करता है और जब वह उसके इस वासना के प्रति उचित दृष्टिकोण को रोगी के मन मे ले आता है तो उसका यह गन्दगी से भय का रोग समाप्त हो जाता है।

अपने गन्दे विचारों को किसी श्रद्धेय और स्नेही व्यक्ति के समक्ष प्रकाशित करने से मन का भार उतरता है। इस प्रकार मन साफ हो जाता है। जो इस प्रकार के प्रकाशन मे वेदना का अनुभव करता है उसे ही लाभ होता है। उपर्युक्त युवक अपनी जीवन गाथा कहते समय बालक जैसे रोने लगा। जो व्यक्ति इस प्रकार की पीड़ा का अनुभव नहीं करता उसे आत्म-स्वीकृति से लाभ नहीं होता। जिन भावों के प्रकाशन से हमारे अभिमान को ठेस लगता हैं, वे ही रोग के कारण होते हैं। अतएव यदि आत्म-स्वीकृति से मनुष्य और अधिक सम्मानित बनता है तो उसके मनकी गन्दगी नही जाती और रोग जहाँ का तहां बना रहता है।

इस प्रकार की गन्दगी को प्रारम्भ ही से रोकना आरोग्य के लिए लाभप्रद होता है। इसके लिये मनुष्य को सदा उद्योगशील और जागरुक रहना आवश्यक है। जिस प्रकार शारीरिक स्वास्थ्य के इच्छुक व्यक्ति किसी प्रकार की गन्दगी को अपने आसपास नहीं ठहरने देते, उसी प्रकार मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकार के स्वास्थ्य के लिये उन्हे सभी प्रकार के गन्दे विचारो को अपने मस्तिष्क मे जाने से रोकना चाहिये। भगवान बुद्ध का कहना है कि प्रत्येक व्यक्तिको अपने मनके दरवाजे के सामने एक पहरुआ बैठा देना चाहिये जिसका कर्तव्य होगा कि यह बिना छानबीन किए किसी प्रकार के बाहर से आनेवाले गन्दे विचार को मन-मन्दिर मे प्रवेश न पाने दे। इस प्रकार का

अभ्यास सम्यक् स्मृति का अभ्यास कहा गया है। जिस प्रकार भले विचारों का संचय मनुष्य के मानसिक स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है उसी प्रकार गन्दे और विषैले विचारो को मन मे न आने देना और आजाने पर उनका रेचन करना भी मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है।

उपर्युक्त शिक्षाको ध्यान मे रखना सभी लोगों का कर्तव्य है, हमारे डाक्टरों और वैद्यों का तो यह विशेष कर्तव्य है। यदि वैद्य अथवा डाक्टर रोगोंका सामयिक उपचार न कर स्थायी लाभ करना चाहता है तो उसे रोगी के न केवल शरीर को सुधारने का, वरन् मन को सुधारने का प्रयत्न करना पड़ेगा। आजकल हम भौतिक सफाई के लिये अनेक प्रकार के प्रयत्न कर रहे हैं, ताकि हमारा स्वास्थ्य सुधरे। इस प्रयत्न के साथ साथ मानसिक सफाई (मेण्टल हाइजीन) की ओर भी ध्यान जाने की आवश्यकता है। अतएव यदि वैद्य, डाक्टर और राष्ट्र के स्वास्थ्य के विषय में सोचने वाला प्रत्येक व्यक्ति को स्वास्थ्य मनोविज्ञान सिखाया जाय तो राष्ट्र का भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार का लाभ हो।

नवाँ प्रकरण

प्रेम और मानसिक आरोग्य

"जिस तरह माता अपने आप को संकट में डालकर अपने इकलौते बेटे को बचाने की चेष्टा करती है, उसी प्रकार मनुष्यों में असीम मैत्रीभाव का प्रसार हो। सारे संसार मे ऊपर नीचे और चारों ओर बिना किसी राग द्वेष और विरोध के मैत्री भाव फैल जाय। मनुष्य अपनी जागृतावस्थामें सब समय इसी भावना का दृढ़ता से धारण किये रहें, तो उसे इसी संसार मे अलौकिक आनन्द और पवित्रता मिले"—मित्ता सुत्ता भगवान बुद्ध बचनामृत।

यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक डेमेट्रीयस का कथन है कि संसार की रचना और संहार मे दो सत्तायें ही काम करती हैं—एक प्रेम और दूसरी घृणा। जब ससार मे प्रेम का प्रादुर्भाव होता है और उसकी अभिवृद्धि होती है तो ससार मे अनेक प्रकार की भली वस्तुओं की सृष्टि होती है, मानव-जीवन रसमय दिखाई देता है और जिस ओर हमारी दृष्टि जाती है, उस ओर हम सौंदर्य का प्रसार पाते हैं। सौंदर्य प्रेम की दृष्टि का नाम है। जब घृणा की वृद्धि होती है तब आपस की कलह और फूट बढ़ जाती है। संसार को स्थिर रखनेवाले अणु एक दूसरे से टकराने लगते हैं। मानव-जीवन निराशा युक्त होने लगता है। ऐसी अवस्था मे मनुष्य की दृष्टि जहां जाती है उसे असौन्दर्य ही दिखाई देता है। प्रेम ही मनुष्य को जीवित रहने के लिये प्रोत्साहित करता है और घृणा उसे जीवन विसर्जित करने के लिए प्रेरित करती है। जहां प्रेम की वृद्धि होती है, वहां आरोग्य की वृद्धि होती है और जहा घृणा की वृद्धि होती है, वहा रोग की। प्रेम जीवन देता है और घृणा मृत्यु।

संसार के कुशल मनोवैज्ञानिकों ने प्रेम की उक्त शक्ति को समझा है। अतएव उन्होंने सभी प्रकार के रोगों के उपचार मे रोगी के आसपास प्रेम का वातावरण उत्पन्न करना नितान्त आवश्यक समझा है। आधुनिक काल के उच्च कोटि के चिकित्सकों का कथन है कि मनुष्य के मन और उसके स्वास्थ्य मे जितना घनिष्ट सम्बन्ध है उसका ज्ञान साधारण डाक्टर को नहीं रहता। इसके कारण रोगी की चिकित्सा मे बड़ी बाधायें होती हैं। अतएव प्रत्येक डाक्टर को मनोविज्ञान का ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। यदि किसी डाक्टर के विचार रोगी के प्रति प्रेम और सहानुभूति के हैं तो वह रोगी को अवश्य ही लाभ पहुँचाने मे समर्थ होगा। इसके प्रतिकूल यदि चिकित्सक भावहीन है, रोगी के प्रति उसके हृदय मे स्नेह नहीं है, तो वह रोगी का अधिक हित नहीं कर पाता। जैसे-जैसे चिकित्सा का काल बढ़ता है, रोग भी बढ़ता जाता है।

आधुनिक काल की एक मौलिक खोज है कि मनुष्य के बहुत से शारीरिक रोगों की जड़ उस के मन मे उपस्थित मानसिक विकारों मे रहती है। रोगी के मन मे अपने ही सम्बन्धी के प्रति अथवा अपने आप के प्रति प्रबल घृणा के भाव रहते हैं, जिसका कि ज्ञान स्वय रोगी को नहीं रहता, यही कलुषित भाव रोगी का शारीरिक रोग बनकर प्रकाशित होता है। कितने ही वैद्य और डाक्टर शारीरिक रोग के ऊपरी लक्षणों का उपचार करते रहते हैं और वे रोगी के मन को नहीं जानते तथा उसके गुप्त भावों को परिवर्तित करने की चेष्टा नहीं करते। इसी से रोगी को लाभ नहीं होता। यदि साधारण वैद्य और डाक्टर रोगी की भौतिक औषधि करते हुए उसके आन्तरिक भावों को बदलने की चेष्टा करें तो उन्हे अपने कार्य मे चमत्कारिक सफलता मिले।

शारीरिक रोगों के विषय मे जो कुछ भी सिद्धान्त प्रतिपादन किया जाय पर मानसिक रोगों के विषय मे तो यह पूर्ण सत्य है कि प्रत्येक मानसिक रोगी प्रेम का भूखा रहता है। इस प्रकार की उसकी प्रेम की

भूख बचपन से ही बढ़ी चढ़ी रहती है। संसार में जहां उसने स्नेह की आशा की थी, वहां उसे तिरस्कार मिला। इस प्रकार उसकी आशायें निराशाओं में परिणत हो गईं और उसके हृदय के स्नेह-युक्त उद्‌गार घृणा में परिवर्तित हो गये*। जब बालक अपने आस-पास के लोगों में आत्म-प्रकाशन में उचित स्नेह और प्रोत्साहन नहीं पाता है, तब वह निराश होकर अपने आप में ही अपनी मानसिक शक्तियों को केन्द्रित

---

* एक सोलह वर्ष के बालक ने अभी हाल में बताया कि उसके पिता उसे कभी भी अपने साथ बाजार किसी वस्तु को खरीदने नहीं ले जाते। एक बार चप्पल खरीदने ले गये थे। इस बालक को पिता ने ही अंग्रेजी वर्णमाला सिखाई। यह अंग्रेजी सबसे कम याद रख पाता है। इसे प्रति माह एक बार अपनी पाठशाला की प्रगतिपत्रिका दिखाते समय पिता की डांट अंग्रेजी में कम नम्बर पाने के लिये खानी पड़ती है। जब उसकी मा नैहर गई थी उसने उसे पत्र घर से लिखा, उसमें अनेक प्रकार की दुःख की बातें थीं। पिता ने इस पत्र को देख लिया। इसे देखते ही लड़के को खूब पीटा और पत्र को फाड़ डाला। तब से लड़के को हकलाहट का रोग हो गया है। वह दिन प्रति दिन बढ़ते ही गया। लड़के की दादी भी बड़े सख्ती का व्यवहार उसकी मा और इस लड़के के साथ करती है। दादी और 'पिता' से बोलने में वह लड़का सबसे अधिक हकलाता है। लड़का अपने स्वप्नों में घर को साप बिच्छू और गोजर से भरा देखता है। ये जानवर घृणा के अनेक विषैले विचार हैं। एक बार उसने देखा कि उसके पिता विदेश से लौटे है। वे बहुतसा सामान लाये हैं। छोटे भाई को तो वे अनेक प्रकार के खिलौने लाये हैं परन्तु उसके लिये कुछ नहीं लाये। उसके लिये केवल अंग्रेजी की कुछ साथ में पत्र-पत्रिकायें और पुस्तकें लाये हैं जिन्हें वह घृणा करता है। बालकों के प्रति उक्त प्रकार का व्यवहार अनेक प्रकार के रोगों का जनक होता है।

कर लेता है। इस प्रकार वह शरीर से बढ़ता है, परन्तु मन से बड़े होने पर भी बच्चा बना रहता है। उसकी बुद्धि सदा देने की न होकर लेने की रहती है। कभी कभी बालक किसी व्यक्ति से प्रबल प्रेम करता है और जब इस प्रेम मे उसे किसी प्रकार का धक्का लग जाता है, तब उसका प्रेम घृणा के रूप मे परिणत हो जाता है। अब मनोवैज्ञानिक का कर्तव्य होता है कि बालक की इस घृणा को उसके चेतन मन पर लाकर फिर प्रेम मे परिणत कर दें। प्रेम की रुकावट होने पर अर्थात् उसके दमित होने पर प्रेम ही घृणा मे परिणत हो जाता है। जब व्यक्ति इस घृणा के भाव को भी आत्मग्लानि के कारण भुलाने की चेष्टा करता है, तब यह भाव चेतना के नीचे चला जाता है। उसे उसकी स्मृति नहीं रहती। परन्तु यही भाव रोग के रूप मे परिणत होकर प्रकाशित होता है। कभी कभी यही भाव मानसिक रोगो मे प्रतीक रूप से प्रकाशित होता है और कभी वह शारीरिक रोग का रूप धारण कर लेता है।

प्रेम मानसिक रोगो की एक अचूक औषधि है। जो मनोवैज्ञानिक जितना ही अधिक रोगी के प्रति स्नेह दिखाता है, वह रोगी के मन में उतने ही अधिक उदार भावों का जागरण करता है। ये ही भाव रोगी को आरोग्य प्रदान करते हैं। मानसिक रोग रोगी से व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करके उसके हृदय को परिवर्तित करके ही समाप्त किये जा सकते हैं। आरोग्य की प्राप्ति एक रचनात्मक कार्य है। इस रचनात्मक कार्य के लिए रोगी के मनमे प्रबल स्नेह के भाव उत्पन्न होना नितान्त आवश्यक है।

डाक्टर फ्रायड ने जिस मनोवैज्ञानिक चिकित्सा विधि का आविष्कार किया, उसका सार भाग रोगी के मन मे प्रेम के भावो को जगाना है। जिस मनोवैज्ञानिक ने इस मूल तत्त्व को पकड़ लिया, उसने अपनी चिकित्सा में मानसिक रोगियों का भारी कल्याण किया और जिसने इसे नही माना, उसने मानसिक रोगी की सेवा मे अधिक सफलता प्राप्त नहीं की। डाक्टर

फ्रायड स्वय जड़वादी थे। उनके विचारानुसार मानव-जीवन का मुख्य हेतु सुख की प्राप्ति है। यदि कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से प्रेम करता है तो उसके प्रेम के नीचे सुख की इच्छा काम करती है। सब प्रकार के शारीरिक सुखो मे श्रेष्ठ काम वासना सम्बन्धी सुख है। अतएव फ्रायड के अनुसार यदि दो व्यक्तियों मे आपस का कोई स्नेह है तो उसका अंतिम आधार यही काम वासना सम्बन्धी लिप्सा की तृप्ति है। फ्रायड महाशय के कथनानुसार जब मनुष्य की विषय-सुख की इच्छा का दमन होता है, तब वह अकारण भय चिन्ता तथा मानसिक रोग का रूप धारण कर लेती है। जिस व्यक्ति की काम-वासना की तृप्ति मे कोई बाधा नहीं होती उसे मानसिक रोग नहीं होते।

काम-वासना की तृप्ति का विरोध दो प्रकार से होता है—एक तो बाह्य जगत् से और दूसरे अपनी ही नैतिक बुद्धि से। बाह्य जगत् का विरोध व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ के लिए उतना घातक नहीं होता, जितना कि मनुष्य की नैतिक भावना का विरोध घातक सिद्ध होता है। बाह्य जगत् के विरोध पर विजय प्राप्त करना सरल है, परन्तु जब मनुष्य की अन्तरात्मा ही उसे किसी कार्य के लिए कोसे, तब उसे शान्ति कैसे मिल सकती है। जो नैतिक बुद्धि मनुष्य की काम-वासना का विरोध करती है, वह स्वयं मनुष्य की इच्छा शक्ति की पहुँच के बाहर रहती है। अतएव उसमे परिवर्तन करना भी रोगी के लिये सभव नहीं है। इस सिद्धान्त को मानकर फ्रायड महाशय के अनुयायी मानव जाति को सलाह देते है कि नैतिकता के प्रतिबन्ध ही शिथिल कर दिये जायँ। डा० फ्रायड के कथनानुसार नैतिकता स्वयं ही ध्वंसात्मक मानव प्रवृति है। इसी से अपने प्रति घृणा का भाव उत्पन्न होता है। यह मनुष्य की भोगवृत्ति मे रुकावट डाल कर उसे रोगी बनाती है। मानसिक चिकित्सक रोगी की नैतिक भावनाओं को धीरे धीरे शिथिल करके उसकी दमित भोग वासनाओ को चेतना की सतह पर लाता है और इस प्रकार उसे रोग

से मुक्त करता है। इससे रोगी की काम-वासना के प्रसार के साथ उसके प्रेम का भी प्रसार होता है।

रोगी का दमित प्रेम अर्थात् उसकी काम-वासना जब पहले पहल अचेतन मन से चेतना के स्तर पर आती है तो वह चिकित्सक पर ही आरोपित हो जाती है। इस तरह रोगी अपने दमित भाव से मुक्त होने पर चिकित्सक के ही प्रेम मे फंस जाता है। यह प्रेम का विलक्षण प्रकाशन हिस्टीरिया के रोगियों मे विशेष कर देखा जाता है। इस प्रकार की घटनाओं से फ्रायड महाशय ने निष्कर्ष निकाला है कि सभी प्रकार का प्रेम वासना युक्त रहता है और बिना वासना के न लौकिक और न दैविक प्रेम संभव है। पिता पुत्र का, मा बेटे का, भाई बहिन का, मित्र मित्र का और भक्त और भगवान का स्नेह सभी कामुक प्रेम के रूपान्तर हैं।

फ्रायड महाशय के उक्त विचार एकागी है। मनुष्य किसी भी व्यक्ति को सन्देह करने लगता है, जब कि उससे उसके स्वार्थ की पूर्ति नहीं होती। वह स्वार्थ की पूर्ति चाहे काम-वासना हो अथवा अन्य इच्छा सम्बन्धी। परन्तु प्रेम और वासना एक ही वस्तु नहीं है। वासना का उद्देश्य अपने सुख के लिये कष्ट उठाना होता है और प्रेम का उद्देश्य दूसरे के हित के लिये अपने सुख का त्याग करना और उसके लिये कष्ट उठाना होता है। जहाँ त्याग भावना नहीं है वहाँ प्रेम होना संभव नहीं है। यदि मानव जीवन मे किसी प्रकार का सुधार होता है, उसमे आनन्द की वृद्धि होती है तो उसका आधार त्यागमय प्रेम है। जहां वासना की वृद्धि होती है, वहा मनुष्य की स्वार्थ परायणता की वृद्धि होती है और स्वार्थ परायणता मनुष्य को उदार न बनाकर संकीर्ण बनाती है। वह उसे शरीर से सीमित कर देती है। शरीर से सीमित होना ही एक प्रकार का मानसिक रोग है। सामाजिक नियम और नैतिकता मनुष्य को इस भावात्मक संकीर्णता से मुक्त कर देते हैं। अतएव इनका अनुशासन मनुष्य की आत्मा के विकास के लिये नितान्त आवश्यक है।

हम चार्ल्स युंग महाशय के इस कथन मे मौलिक सत्य देखते हैं कि मनुष्य के स्वभाव मे नैतिकता उसी प्रकार निहित है, जिस प्रकार वासना उसके स्वभाव मे निहित है। मानसिक रोगो का मुख्य कारण नैतिक बुद्धि के विरुद्ध आचरण करना होता है। जब मनुष्य स्वच्छदता पूर्वक अपनी वासनाओं की तृप्ति मे लग जाता है, तब वह अपने व्यापक स्वत्व की अवहेलना करता है। यह व्यापक स्वत्व ही नैतिक बुद्धि का रूप लेता है। नैतिक बुद्धि द्वारा दडित होना अपने उच्च स्वत्व द्वारा दडित होना है। किसी भी स्वार्थमय काम के करने के लिये मनुष्य समाज द्वारा, राज्य द्वारा, प्रकृति द्वारा अथवा अपनी नैतिक बुद्धि द्वारा ही दडित होता है। इस प्रकार दड पाना उसके आध्यात्मिक विकास के लिये आवश्यक है। मानसिक रोग स्वयं मानसिक अशान्ति की चिकित्सा है। रोगी मनुष्य इन रोगो से परेशान हो जाता है, वह रोग से घृणा करता है, परन्तु यह परेशानी उसकी उसी प्रकार की है, जिस प्रकार जीवन के अन्य क्षेत्र मे भूल करने वाले व्यक्ति दड देनेवाली सत्ता के प्रति अनुभव करते हैं। दण्ड दण्डित व्यक्ति को कब प्रिय लग सकता है? जब दडित व्यक्ति अपने दंड को कल्याणप्रद मानने लगता है तब उसे दण्ड की आवश्यकता नहीं रहती। मानसिक चिकित्सक का प्रमुख कार्य रोगी द्वारा स्नेह पूर्वक आत्म-स्वीकृति कराकर उसका मानसिक परिष्कार करा देना है। जब चिकित्सक और रोगी मे सहानुभूति का भाव रहता है तो रोगी का इस प्रकार आत्म-स्वीकृति सरल हो जाता है। चिकित्सक के स्नेह से रोगी अपने आप मे एक नये उत्साह का अनुभव करता है और रोग के कारण अपने आपको अभागा न मानकर अपने को सामर्थवान् व्यक्ति मानने लगता है। चिकित्सक का स्नेह रोगी को आत्म-विजय प्राप्त करने मे और अपनी कमजोरियों के प्रति आख न मूद कर, उनपर अधिकार प्राप्त करने मे सहायक होता है।

किसी व्यक्ति को प्रोत्साहित करने के लिए उससे सहानुभूति रखने

वाले व्यक्ति को उसके दुःख को स्वयं अनुभव करना पड़ता है। जब चिकित्सक रोगी के प्रति त्याग भाव दिखाता है, तब रोगी स्वय ही अपने आप मे नये सामर्थ का उदय देखता है। इस तरह संसार के सबसे बड़े चिकित्सक वे लोग हैं, जिन्होंने मानव जाति के कल्याणार्थ अपना सभी कुछ त्याग दिया, जिनके रोम रोम मे प्राणि मात्र के प्रति स्नेह भरा हुआ है और जो सभी प्राणियों के लिये इस प्रकार सहायता देने को तैयार रहते हैं, जिस प्रकार माता अपने बच्चे को सहायता देने के लिए सदा तैयार रहती है। इस प्रकार के प्रेम के लिये वासना की वृद्धि नहीं, वरन् उस पर विजय की आवश्यकता होती है। मनुष्य इस प्रकार के प्रेम से ही वासना पर विजय प्राप्त करने मे समर्थ होता है इस प्रकार मानव जाति के प्रति प्रेम संसार के सभी महात्माओं ने दर्शाया हैं। भगवान् बुद्ध, हजरत ईसा, सेन्ट बर्नार्ड, सेन्ट फ्रेंसिस, भगवान् चैतन्य महाप्रभु और रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी रामतीर्थ के जीवन को यदि हम देखें तो वास्तविक प्रेम के स्वरूप को सरलता से पहचान सकेंगे। इसी प्रकार के प्रेम से न केवल मानसिक रोगियों को लाभ होता है, वरन् प्रत्येक निराशा-युक्त व्यक्ति के जीवन मे नवप्राण का संचार होता है। डाक्टर विलि-यम बाउन ने इस प्रकार के महात्माओं की आरोग्य प्रदान करने की क्षमता के विषय मे अपनी पुस्तक "साइकोलाजी एण्ड साइकोथ्रेपी" मे लिखा है कि ऐसे व्यक्तियों के दर्शन और स्पर्श मात्र से जटिल मानसिक रोग ही नहीं वरन् शारीरिक रोग भी पल भर में समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार की घटनायें सामान्य दृष्टि से चमत्कारक अवश्य हैं; परन्तु इस प्रकार के चमत्कार विज्ञान-विरोधी नहीं हैं।

प्रेम का सच्चा स्वरूप सेन्ट बर्नार्ड ने अपने निम्न लिखित शब्दो मे बताया है—"प्रेम का न तो अपने से अतिरिक्त कोई कारण होता है और न कोई फल, प्रेम स्वयं ही अपना फल है। मनुष्य की आत्मा मे जितनी हलचल और भावनायें आती हैं उनमें प्रेम ही एक ऐसी वस्तु है, जिसके

द्वारा वह परमात्मा की सादृश्यता प्राप्त करता है और उसने जो कुछ मनुष्य को दिया है, उसके बदले मे उसे कुछ देता है। जब परमात्मा मनुष्य से प्रेम करता है तो उससे वह प्रेम पाने की इच्छा रखता है क्योंकि वह जानता है कि प्रेम ही उससे प्यार करने वाले व्यक्ति को सुखी बनाता है।"

मानव जीवन का सार भाग वास्तव में प्रेम ही है। प्रेम ही सब सद्‌गुणों का उद्‌गम है। सभी भलाइयों का मूल श्रोत प्रेम ही है। जब मनुष्य प्रेम से प्रेरित रहता है, तब वह अपने कष्ट को भी भूल जाता है। बहुत दिन तक रोगग्रस्त व्यक्ति जब किसी कारणवश प्रेम से प्रेरित हो जाते हैं तो वे एकाएक अपने रोग को भूल जाते हैं और आश्चर्यजनक कार्य कर डालते हैं। मानसिक रोगियों के उपचारार्थ उनको यही सुझाव देना सर्वोत्तम है कि वे अपने ही विषय मे सब समय चिन्तन न करके संसार के दूसरे लोगों के विषय मे चिन्तन करने लग जायँ। जब हम संसार के दुखियों के दुख निवारण मे संलग्न हो जाते हैं, तब हम न केवल अपने दुख को भूल जाते हैं, वरन् उन दुखों से मुक्त हो जाते हैं।

मनुष्य के सभी प्रकार के रोगों की जड़ उसके मनमे रहती है। जो व्यक्ति अपने रोग का जितना ही अधिक स्मरण करता रहता है, वह उसे उतना ही अधिक स्थायी बनाये रखता है। जो रोगी अपने रोग को बहुत चढ़ा बढ़ा कर कहता है, वह वास्तवमे उससे मुक्त नहीं होना चाहता। वह दूसरों का ध्यान किसी न किसी प्रकार अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है। बिना स्नेह के मिले उससे यदि रोग छिना लिया जाय तो उसकी वही गति होगी जो अन्धे से उसकी लकड़ी छिनाने से होती है। स्नेहहीन व्यक्ति के जीवन का आधार उसका रोग रहता है। रोग के चले जाने पर कभी-कभी इस प्रकार के व्यक्ति आत्म-हत्या तक कर डालते हैं। अतएव रोग का वास्तविक उपचार रोगी से रोग छिनाना नहीं है, वरन् उस आधार को देना है, जिसके आभाव में वह रोगी बन गया है। सभी मनुष्यों का जीवन आधार प्रेम है। सच्चा प्रेम आरोग्यदायक ही नहीं वरन् जीवनदायक है।

बच्चोंके प्रति प्रेम से मानसिक लाभ

मानसिक आरोग्य की प्राप्ति का एक सर्वोत्तम उपाय छोटे बच्चों को प्यार करना, उनको खिलाना पिलाना, उन से बातचीत करना, उनके साथ खेलना और उनके पढ़ाने लिखाने मे मन लगाना है। इससे मनुष्य दीर्घायु हो जाता है। जो लोग बालकों की इस प्रकार की सेवा से बचते हैं वे जल्दी-जल्दी बिस्तर पर पड़ा करते हैं। जो लोग जितना ही बालकों के बारे मे सोचते हैं और उन्हें किसी न किसी प्रकार प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं, वे अपने आप को उतना ही सुखी और आरोग्यवान बनाते हैं। ऐसे लोगों को अकारण चिन्ता, भय और हृदय के रोग नहीं होते। लेखक के उपचार मे जितने ही हृदय के रोगी आए, उन सभी के जीवन मे बच्चों के प्रति प्रेम की कमी पायी गयी। इसमे से कितनों ने तो अपने बच्चे को कभी गोदी मे नहीं लिया था। जो लोग हमारी चिकित्साविधि को मानकर बच्चों को प्यार करने लगे और सदा उनको अपने साथ रखने लगे, उनके हृदय का रोग जाता रहा। जब रोगी को अकारण चिन्ता और मानसिक अशान्ति त्रास देती है, तब छोटे बच्चों के साथ बातचीत करने, उनके साथ खेलने, उन्हें 'क' 'ख' 'ग' सिखाने और उनका चिन्तन करने से यह सरलता से नष्ट हो जाती है।

महर्षि व्यास को अपने बुढ़ापे मे काफी अशान्ति हुई। वे इस समय तक सभी पुराणों का निर्माण कर चुके थे। वेद वेदान्त आदि सभी का अध्ययन और उन पर ग्रन्थ निर्माण हो चुका था; परन्तु उनकी ब्रह्मविद्या के ज्ञान ने उन्हे मानसिक शान्ति नहीं दी। वे फिर नारदजी के पास गये और उनसे मानसिक शान्ति का उपाय पूछे। नारदजी ने बालकृष्ण के गुणानुवाद गानेके लिये उन से कहा। इसके परिणामस्वरूप व्यासजी द्वारा श्रीमद्भागवत का निर्माण हुआ। इसके निर्माण से न केवल व्यासजी की ही मानसिक व्याधि जाती रही, वरन् उस समय से आजतक के करोड़ो नरनारियों की मानसिक अशान्ति को दूर करने की यह पुस्तक

औषधि बन गई। श्रीमद्भागवत का दशम स्कन्ध वास्तव मे मानसिक आरोग्य की दृष्टिकोण से बड़ा उपयोगी है। महामना पण्डित श्रीमदनमोहन मालवीयजी इस स्कन्ध का बार बार परायण करते रहते थे। मालवीयजी की भागवत मे लगन का ही परिणाम है कि वे अपना सब कुछ काशी विश्वविद्यालय के निर्माण मे दे सके। वे सदा बालकों की शुभ कामना के चिन्तन मे लगे रहते थे। वे कहा करते थे कि मैं आप सभी लोगों मे नारायण को देखता हूँ। जिन लोगों को गृहस्थ जीवन का अवसर प्राप्त नहीं है, उन्हे श्रीकृष्ण भगवान् का गुणानुवाद गाना मानसिक दृष्टि से बड़ा ही लाभदायक होता है। अविवाहित और असफल गृहस्थों के जीवन को सफल बनाने की सर्वोत्तम औषधि श्रीबालकृष्ण की उपासना है। यह न केवल धार्मिक दृष्टि से लाभप्रद है, वरन् मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी लाभ दायक है। जयदेव, सूरदास और मीराबाई के जीवन की सफलता श्रीबाल-कृष्ण की उपासना में ही है। जो व्यक्ति अपनी श्रीबालकृष्ण की उपासना के दृष्टिबिन्दु को प्रसारित कर सकते हैं, वे और भी धन्य हैं। सभी बच्चों में श्रीकृष्ण भगवान् को देखना, सभी बच्चों से प्यार करना, उनकी सेवा करना मनुष्य के जटिल भावों को सुलझाता और उनके मानसिक क्लेशो का निवारण करता है।

हजरत ईसा के पास जब छोटे,छोटे बच्चे दौड़कर आ रहे थे, तब लोग उन्हें रोकने लगे। वे समझे कि ये लड़के अपनी उद्दण्डता से ईसा को रंज कर देंगे; परन्तु ईसा ने कहा कि 'तुम इन बच्चों को मेरे पास आने से मत रोको; क्योंकि स्वर्ग का राज्य वास्तवमे इन्हीं का है और मैं सचमुच मे तुम से यही कहता हूँ कि जबतक तुम भी अपने हृदय मे बच्चों जैसे नहीं बन जाओगे, तबतक तुम्हें स्वर्ग के भीतर नहा जाने दिया जायगा।' महात्मा ईसा बच्चे को कितने महत्त्व की दृष्टि से देखते थे इससे यह प्रत्यक्ष है। संसार के प्रायः सभी संत बच्चों से प्यार करते चले आये हैं और इन्होंने अपने आप को बच्चे-जैसा बनाने की सदा चेष्टा की

है। दुनियादारी हमे छल सिखाती है। इससे कुछ लौकिक सफलता हमें अवश्य मिलती है, परन्तु हमारा हृदय हमे कोसने लगता है। हमे फिर आत्म-प्रसाद नही मिलता। हम मे अनेक प्रकार के अकारण भय, चिन्ता और सन्देह आने लगते हैं। ऐसी अवस्था मे हम अपना आत्म-विश्वास खो देते हैं।

सफल शिक्षक वही व्यक्ति हो सकता है जो बच्चों को देवरूप मानता है। फ्रांस के प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री रूसो महाशय के इस कथन मे केवल कविता और कल्पना मात्र ही नहीं है कि परमात्मा के हाथ से जो वस्तु आती है, वह सुन्दर होती है और मनुष्य के हाथ मे ही वह बिगड़ जाती है। अतएव बालक को श्रद्धा-दृष्टि से देखना न केवल बालक के प्रति अपना कर्तव्य पालन करने मे सहायक होता है; वरन् उस परमात्मा के प्रति अपनी आस्तिकता प्रकट करने का यह निश्चित रूप है, जिस परमात्मा ने सारी सृष्टि को रचा है। सच्चे शिक्षक बालक से न केवल प्रेम करते हैं वरन् उन्हे श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। वे बच्चे की तोतली वाणी मे देववाणी की ध्वनि पाते हैं। जो व्यक्ति बालक की साधारण-सी बातों मे जितना रस लेता है, वह अपने हृदय की शान्ति को उतना ही अधिक स्थिर बनाता है। छोटे बच्चों का लालन पालन और उनका पढ़ाना जितना स्वास्थ्य की दृष्टि से लाभप्रद है, दूसरा कोई काम उतना लाभप्रद नहीं हैं।

लेखक के एक मित्र को एक बार अकारण मानसिक विषाद उत्पन्न हो गया। इनकी आयु चौंसठ वर्ष की थी। ये स्वयं मानसिक रोगो की चिकित्सा आयुर्वेदिक ढंग से किया करते थे और आयुर्वेद के बड़े ही विख्यात पण्डित थे। इनसे कई दिनों तक बात-चीत की गई, इनके स्वप्नो का अध्ययन किया गया और इनकी जीवन-गाथा सुनी गई। जिस बात ने उन्हें सबसे अधिक लाभ पहुँचाया वह बालको का अपने समीप रखना और उनको पढ़ाने मे मन लगाना था। जब कुछ दिन

बाद लेखक उनके पास गया और उनके स्वास्थ्य-लाभ करने के बारे में उनसे पूछा तब उन्होंने कहा कि छोटे बच्चों को पढ़ाने से मुझे बच्चों के मन की गति समझ में आयी। इसे बान कर मैंने बच्चों के मन को वश में करने का उपाय निकाला। फिर जिस प्रकार बच्चों के मन को वश में करने की बात मैंने सीखी उसी प्रकार अपने बाल-मन को भी वश मे करने का मार्ग मुझे मिल गया। मैंने देखा कि जिस प्रकार बच्चों का मन हठी होता है, इसी प्रकार बड़ों का आन्तरिक मन भी हठी होता है। ऊपरी मन की विद्वत्ता इस हठ को मिटाने मे समर्थ नहीं होती। जो हठ बाल-मन पकड़ लेता है, वह उसे लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं छोड़ता। उससे ऐसी बात को छुड़ाने के लिए वही उपाय करना पड़ता है, जो बालक को वश मे रखने के लिए रचना पड़ता है।

वास्तव में बालक के साथ स्नेह करने से अपनी अन्तरात्मा का उनके साथ तादात्म्य हो जाता है। फिर जैसे जैसे बालक अपने जीवन में उन्नति करते जाता है, वैसे वैसे हम अपने आप ही उन्नत होते जाते हैं। इस प्रसंग मे एक अंग्रेजी साहित्यकार का अनुभव उल्लेखनीय है। इस साहित्यकार को सिगरेट पीने की बड़ी आदत थी। वह इसे छोड़ना चाहता था; परन्तु लाख प्रयत्न करने पर भी छोड़ नहीं पाता था। जब कभी वह सिगरेट पीना बन्द करता तो उसका मन निरुत्साह हो जाया करता था। एक बार उसके मित्र का लड़का, जिसे भी सिगरेट पीने की आदत थी, मित्र के कहीं बाहर जाने पर उसके यहां रहने लगा। इस लड़के की सिगरेट पीने की आदत को उसने बान लिया। लड़का किशोरावस्था में था। इस लड़के के प्रति उस व्यक्ति को भारी सहानुभूति हुई। उसके मन में विचार आया कि यदि यह लड़का अपनी इस आदत को इस समय न छोड़ पाया तो वह एक बटिल आदत का दास बन जायगा और फिर मेरी तरह आत्मग्लानि का कष्ट भोगेगा। फिर इस व्यक्ति ने उस बालक को अपना प्रेम दिखाते हुए और अपनी मानसिक बटिलता

को कहते हुए सिगरेट पीने की आदत को छोड़ने की सलाह दी। लड़के को धीरे धीरे सिगरेट पीने की आदत को छोड़ने का मार्ग बतलाया। उसे किसी रचनात्मक कार्य मे सहानुभूतिपूर्वक लगाया। धीरे धीरे तीन चार महीने में उस बालक ने सिगरेट पीना छोड़ दिया। उसके मित्र के आने पर वह अपने घर चला गया। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि जब इस व्यक्ति ने अपनी सिगरेट पीने की आदत को छोड़ने का सकल्प किया तब वह अपने संकल्प को पूरा करने मे बिना किसी कठिनाई के सफल हो गया। इस समय तक उसकी इच्छाशक्ति इतनी बलवान हो गई कि यह जटिल आदत उसे अपने वश मे न रख सकी।

उक्त उदाहरण से हम देखते हैं कि बालक मे सहानुभूति पूर्वक किसी प्रकार का सुधार करने के प्रयत्न से हम स्वय ही अपने आप सुधर जाते हैं। यह कार्य हमारे अनजाने मे हो जाता है; परन्तु इस प्रकार का सुधार कार्य अभिमान पूर्वक न होना चाहिए। बालक को अपने से अच्छा समझते हुए होना चाहिए। साधारणतः बालक हमारे सुधारक गुरु बनकर ही आते हैं। जो दूसरों को नीचा मानकर उन्हे सुधारना चाहते हैं वे न तो दूसरो मे और न अपने आप मे सुधार कर पाते हैं। इस प्रकार की सुधार की मनोवृत्ति अपनी ही कमजोरियों का दूसरो पर आरोपित करना मात्र है। दूसरो में देवत्व देखना ही अपने आप मे देवत्व-भाव का जागरण करना है। दूसरों मे शैतान देखना अपने मे शैतान को बली बनाना है।

लेखक के एक मित्र अकारण पेट के रोग और अशान्ति से पीड़ित हो गये। ये स्वयं प्रसिद्ध वैद्य हैं; परन्तु अपने इस रोग की चिकित्सा करने मे असमर्थ रहे। उनका मनोविश्लेषण-विधि और निर्देश-विधि से उपचार किया गया। इससे कुछ लाभ उन्हें अवश्य हुआ; परन्तु उनको स्थायी लाभ जीवन के प्रति दृष्टिकोण परिवर्तित करने से हुआ। ये पहले अपने-आप को एक महान् व्यक्ति मानते थे। उन्होंने लाखों

रुपया अपने पुरुषार्थ से कमाया था। उनकी सफलता ही अब उनके लिए भार स्वरूप हो गयी थी। वे अपनी इस महत्ता को भुला नहीं सकते थे। उन्हें बच्चों को खिलाने और उनके साथ समय बिताने की सलाह दी गई। उन्होंने धीरे-धीरे अपने-आप को बच्चो का संगाती बना लिया। एक दिन लेखक ने देखा कि वे अपनी एक नतिनी को कंधेपर लिए खूब मजे सब लोगो मे टहल रहे थे। वे कहने लगे, 'पण्डित जी ! यह बालिका मुझे जीवन प्रदान कर रही है। पहले जिन बच्चों से मैं दूर भागता था, अब वे ही मुझे प्यारे लगते हैं।' उस समय न तो उन्हे मानसिक कष्ट था और न पेट का रोग।

बच्चा निरभिमान होता है। सभी रोगों की वृद्धि अभिमान के कारण होती है। वास्तव मे रोग मनुष्य के पास उसके अभिमान को कम करने लिए ही आता है और जब वह हमे बच्चे-जैसा निराभिमान बना देता है तब चला जाता है। अपने अभिमान को खोने का सर्वोत्तम उपाय बच्चों के विषय मे चिन्तन करना और उनके साथ कुछ खेलना है। इगलैंड का प्रसिद्ध राजा अलफ्रेड प्रत्येक रविवार को गुप्त रूप से अपनी राजधानी से पचास मील दूर जाकर एक साधारण घर का अतिथि बन जाता था और वहाँ के छोटे छोटे बालकों के साथ ऐसे खेलने लगता था मानो वह भी बालक है। कभी कभी वह इन बच्चों को पीठ पर रखकर घुटने और हाथों के बल चलता और वे उस पर घोड़े-जैसे सवारी करते थे। इससे उसके मन मे इतनी प्रसन्नता हो जाती थी कि वह सप्ताह भर अपने राज्य-भार को सरलता से सँभाल लेता था।

वास्तव मे बच्चा एक शक्ति का केन्द्र है। जो बच्चे की सेवा इस भाव से करता है कि उससे उसे शान्ति और आनन्द मिलता है तथा उसकी मानसिक शक्ति बढ़ती है, उसे अवश्य लाभ होता है। बच्चे के मन में अन्तर्द्वन्द नहीं होता, इसलिए उसकी शक्ति व्यर्थ खर्च नहीं होती है। बच्चे के सम्पर्क मे आते ही मनुष्य का मन भी बच्चे के मन जैसा

सरल बन जाता है। जिस भाव से हम प्रभावित रहते हैं, उसी भावना को हम चरितार्थ भी करते हैं। बच्चे की सरलता बार बार मन में लाने से, उसके प्रेम का चित्र मन में बार बार अंकित करने से हम स्वयं सरल चित्त के हो जाते हैं और हमारा सारा स्वत्व प्रेम से पूर्ण हो जाता है। जहाँ प्रेम है वहीं आनन्द है, वहीं शान्ति और वहीं सच्चा स्वास्थ्य है। प्रेम और परमात्मा एक ही तत्व के दो नाम हैं। प्रेम परमात्मा की शक्ति है। शक्ति और शक्तिमान् में नाम का भेद है, तत्त्व का नहीं।

दसवाँ प्रकरण

क्रोध के विचारों का प्रभाव

प्रत्येक विचार में अपने आपको फलित करने की शक्ति होती है। प्रेम के विचार प्रेम का प्रवाह संसार मे बढ़ाते हैं और क्रोध के विचार संसार में विनाश की वृद्धि करते हैं। प्रेम के विचारों से हमारे शारीरिक मानसिक और भौतिक वृद्धि होती है और क्रोध के विचारों से एक ओर स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है और दूसरी ओर भौतिक अवनति हो जाती है। इस विषय में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रकाशित विचारों की अपेक्षा अप्रकाशित विचार अधिक प्रभावशाली होते हैं। उनके कारण भौतिक जगत मे भी उथल पुथल मच जाती है। क्रोध के विचारों से शारीरिक रोग कैसे उत्पन्न हो जाते हैं इसका एक उदाहरण निम्नलिखित आंख के रोगी के अनुभव को देख कर पाया जाता है।

कुछ दिन पूर्व लेखक के पास एक प्रौढ़ महिला उसके मानसिक रोग के सम्बन्ध में लाई गई। यह महिला रात में नींद की अवस्था में गाना गाती थी और कई प्रकार की बातचीत करती थी। यह बाल विधवा है। यह एक तरह से अनाथ है। उसके पति के घर के लोगों ने इसे त्याग ही दिया है। वह अपना जीवन अपने भाई और अपनी बहन के घर पर व्यतीत करती थी। अपनी बहिन के यहां उसे बहुत कष्ट हुए। बहिन के पति और उनके लड़के उससे खूब काम लेते और मजदूरिन जैसा व्यवहार करते थे। यह सब बातें उसके मानसिक रोग के सम्बन्ध में बातचीत करने से ज्ञात हुई।

जब यह महिला मेरे पास लाई गई तो देखा कि वह अंधी है। पूछने पर पता चला कि गत वर्ष उसकी दोनों आंखें फूट गई। एकाएक

यह घटना हुई। वह एक दिन सोकर उठी तो उसने अपनी आंखों में दर्द पाया और देखा कि उसे कुछ भी दिखाई नहीं देता है। उसकी आंखों का आपरेशन कुछ दिन पहले हुआ था पर लाभ नहीं हुआ। डाक्टर ने कहा कि उसकी आख में मोतियाबिन्द है। उसका फिर से आपरेशन करना होगा।

लेखक को जानकारी से अन्दाज मिला कि उसकी मानसिक बीमारी और शारीरिक बीमारी में घनिष्ट सम्बन्ध है। लेखक ने उसके पास रहने वाली एक बालिका से कहा कि तुम उसके सोते समय के विचारों को लिखना और जो कुछ वह कहा करती है इसका ठीक ठीक वृत्तान्त सुनाना। उसी दिन एक विचित्र-सी घटना हुई। जब यह महिला सो रही थी तो उसने बकना प्रारम्भ किया। पास में सोई हुई लड़की उठ कर उसके पास चली गई। महिला का मुँह ढंका हुआ था। उसने लड़की से कहा "मां, तुम आ गईं, बैठ जाओ" इस पर लड़की उसके सिरहाने बैठ गई। इसके बाद लड़की का भाई भी आया। अब उससे कहा गया कि 'गणेश' जो उसकी बहन का लड़का था और जो उसे त्रास दिया करता था आ गया है। वह चुप हो गई और कुछ देर के बाद चिल्लाकर कह उठी "मेरे पास से दूर हो जाओ" कुछ देर के बाद वह अपनी मां को अनेक बाते कहने लगी। फिर स्वप्न में ही उसने किसी से कहा कि जिस प्रकार मैं अपनी मां के लिये रो रही हूं उसी प्रकार तुम भी अपने लड़के के लिये रोओगे।

इस महिला की मां दस वर्ष पहले मर चुकी थी। जब वह मरी थी तब उसके पास उसके जीजा ने नहीं जाने दिया था और न उसका वृतान्त ही सुनाया था। वह अपनी मां के लिये बहुत ही रोई थी। पर वह अपने पहले दुःख को भूल गई थी। वह किसी को न गाली देती और न किसी के बारे में कुछ कहती थी। वह बड़ी ही सुशील थी और सब का काम बड़ी श्रद्धा से करती थी।

जब इस महिला को जगा कर पूछा गया कि उसे स्वप्न में क्या क्या दिखाई दिया तो उसने कहा कि मैंने अपनी मां का स्वप्न देखा है। जब उससे पूछा गया कि क्या गणेश को भी तुमने स्वप्न मे देखा तो उसने कहा कि नहीं देखा। वास्तव मे उसका चेतन मन अब उस घटना को भूल गया। उसे भारी पीड़ा हो चुकी थी और उसके मन मे अपनी बहिन के परिवार के विषय मे बड़े ही क्रोध के विचार थे।

अब एक ओर उसकी सोते समय बकवास करने और दूसरी ओर आख की बीमारी का रहस्य खुल गया। जब मनुष्य की कोई प्रबल भावना दब जाती है तो मनुष्य एक ओर इस भावना को भूल जाता है और उसके आचरण मे विपरीत बाते पाई जाती है और दूसरी ओर उसकी अचेतन अवस्था मे किसी न किसी प्रकार ये भावनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं। इसी के कारण शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। उक्त महिला के मन मे अनेक प्रकार के क्रोध के विचार आते थे जिन्हे वह प्रकाशित नहीं कर सकती थी। जिन विचारों को मनुष्य किसी कारण-वश अपनी चेतन अवस्था मे प्रकाशित नहीं कर पाता वे विचार मनुष्य की अचेतन अवस्था मे प्रकाशित होते हैं। विचारों के प्रकाशित न होने के कारण ही मानसिक रोग अथवा किसी प्रकार की विक्षिप्तता उत्पन्न होती है। भयङ्कर स्वप्नों का देखना स्वप्नमे चलना फिरना अथवा बक-वास करना इसी कारण से होता है।

कुछ दिन पूर्व लेखक के मित्र के लड़के को आख मे फूली पड़ने लगी थी उसे भारी पीड़ा भी हो गई थी। वह कलकत्ते मे एक मिल में नौकर था। इस आख के रोग के कारण उसे अपनी नौकरी छोड़कर बनारस आना पड़ा था। पिता सम्पन्न व्यक्ति है, अतएव उसके आख के रोग की अनेक प्रकार की चिकित्सा की गई। जब साधारण डाक्टरी उपचार से रोग कम होते न दिखाई दिया तो उसका प्राकृतिक चिकित्सा से उपचार होने लगा। इसके लिये लड़का ल्यूकोनी का टब स्नान ले

रहा था। इसी समय लेखक इस लड़के के छोटे भाई को एक मानसिक रोग का उपचार कर रहा था। उससे जब कहा गया कि उसका भी रोग मानसिक हो सकता है और जिस परिस्थिति में वह रहता है उसके बदलने से रोग चला जा सकता है तो उसने अपनी नौकरी की परिस्थिति बताई। वास्तव में रोगी उस मिल के अधिकारियों से असंतुष्ट था परन्तु वह अपने स्थान को छोड़ नहीं सकता था। जब वह नौकरी पर कलकत्ता जाता तो उसका रोग बढ़ जाता था। यह रोग एक ओर उन अधिकारियों के प्रति असफल क्रोध को व्यक्त करता था और दूसरी ओर रोगी को अप्रिय परिस्थिति से मुक्त करता था। जब रोगी के पिता ने लेखक की सलाह मान कर पुत्र को कलकत्ते से हटा लिया तब उसका आँख का रोग जाता रहा। फिर इसी लड़के से उन्हीं अधिकारियों के प्रति मैत्री भाव का अभ्यास कराया गया और फिर वह सदा के लिये स्वस्थ हो गया।

अति प्रबल दमित क्रोध की भावनाएँ किस प्रकार आँख का रोग उत्पन्न कर देती है इसका एक उदाहरण ब्राउन महाशय ने अपनी 'ले ए. नालेसिस' नामक पुस्तक मे दिया है। एक प्रतिष्ठित व्यक्ति की स्त्री व्यभिचारिणी हो गई थी। उसके पति को इसके कारण उससे भारी घृणा हो गई। वह चाहता था कि उससे छुटकारा पा ले पर अपनी मान-मर्यादा के कारण कचहरी मे जाने की हिम्मत भी नहीं करता था। उसकी मानसिक अवस्था कई दिनों तक इस प्रकार की रहने पर वह अन्धा हो गया। यदि किसी मनुष्य को ऐसे लोगों को प्रति दिन देखना पड़े जिन्हें वह देखना नहीं चाहता तो वह अपनी आँख की दृष्टि खो देता है।

हाल ही की बात है। मेरे एक मित्र मेरे पास एक किशोर बालक को लाये। जिस समय वह मेरे पास आया, उसका आकार प्रकार बड़ा विलक्षण था। उसे देखकर कोई व्यक्ति कहता कि वह कोई अनाथलय का लड़का है। वह गन्दे कपड़े पहने था। सिर घुटा हुआ था, हाथ पैर निर्जीव से दिखाई देते थे। इस बच्चे की बीमारी के बारे में पूछा गया तो मित्र

ने बताया कि वह लड़का आँख की बीमारी की शिकायत करता है। वह डाक्टरों के पास ले जाया गया है, परन्तु वे उसके आँख के रोग का पता नहीं चला पाये हैं।

मित्र को घर भेज दिया गया और बालक से अकेले में बातचीत की गई। वह लड़का अपने जीवन से भारी दुःखी था। पहले तो उसे रोग की ही चिन्ता थी। उसके मन मे यह भय हो गया था कि वह धीरे धीरे अन्धा हो रहा है। इसी के कारण उसकी पढ़ाई छूट गई थी। वह इस-लिये भी वह दुःखी था कि उसके साथी मेट्रिक के कक्षा मे पहुँच गये और वह स्वयं नवे दर्जे मे ही रह गया। वह यह कहते कहते रो पड़ा कि वह अन्धा हो जावेगा। उसके मन में दुनिया के किसी व्यक्ति के प्रति स्नेह नहीं रह गया था। डाक्टर लोग इसके रोग का पता नहीं चला पाये थे। एक प्रतिष्ठित डाक्टर ने तो बताया था कि उसका रोग शारीरिक नहीं वरन् मानसिक है।

उसके दुःख मे सहानुभूति प्रगट करते हुए उसके जीवन की सभी घटनाओं को पूछा गया। उसके वर्णन करने से पता चला कि वह अपने पिता का अकेला पुत्र है। उसके पिता रंगून मे काम करते थे। उसे अपने चाचाओं की संरक्षता मे अपनी माता के साथ यहाँ रहना पड़ता था। वह अपने आप को विशेष प्रकार के सम्मान का अधिकारी मानता था क्योंकि उसके पिता घर रुपया भेजते थे। इसके अलावा उसका घर की जायदाद में हिस्सा था। परन्तु चाचाओं का उसके प्रति व्यवहार तिरस्कार का था। वह चाचाओं के अत्याचार को सह नहीं सकता था। जब पिता रंगून से वापस घर आ गये तो उसने चाचाओं की पेट भर शिकायत पिता से की। पर पिता ने सब अनसुनी कर दी और वह फिर घर से बाहर नौकरी पर चले गये। चाचाओं का व्यवहार उसे अब और भी असह्य हो गया। वह उन्हे देखना नहीं चाहता था और किसी न किसी बहाने घर से बाहर आ जाना चाहता था। उसका आँख का रोग एक ओर चाचाओं के न

देखने की इच्छा का व्यक्तीकरण था और दूसरी ओर घर से बाहर रहने की इच्छा की पूर्ति थी। इस रोग के कारण वह अपने देहाती घर को छोड़ बाहर रह सका।

इस लड़के की सभी बातों को बड़ी सहानुभूति से सुना गया। इससे उसका दबा क्रोध कुछ शान्त हुआ। फिर उसे पढ़ने लिखने के लिये प्रोत्साहित किया गया। उसे बताया गया कि माता पिता की सहायता बिना भी लड़के पढ़ सकते हैं। उसे बताया गया कि लेखक स्वयं अपने आप पैसा कमा कर पढ़ा है। फिर उसे बताया कि वह लेखक के पास रह कर भी पढ़ सकता है जैसे दूसरे लड़के पढ़ते हैं। उसे पढ़ाई मे सहायता देने का आश्वासन दिया गया। एक ऐसे लड़के की गाथा सुनाई गई जो चाचाओं के क्षमा कर देने पर प्रोफेसर बन सका है। उसे अपने ही हित मे चाचाओं के प्रति मैत्री भावना का अभ्यास करने को प्रोत्साहित किया गया। उसने अपने हठ को छोड़ दिया और फिर वह स्वास्थ्य में, रहन सहन मे और मस्तिष्क में एक दम बदल गया।

एक महिला को अपने पति के प्रति एक दूसरी युवती से प्रेम करने के लिये भारी क्रोध आया। इससे उसे मूर्छा और मेलेन्कोलिया का रोग हो गया इस महिला ने अपने हृदय की सभी बातें लेखक को सुनाई। उससे सहानुभूति प्रगट की गई। इससे उसका मानसिक रोग तो जाता रहा परन्तु क्रोध के कुछ दबे विचारों ने अपना प्रभाव दिखाया। उसके पेट में फोड़ा हो गया जिसका उसे आपरेशन कराना पड़ा।

एक दूसरी महिला को अपने पति के प्रति अत्यन्त लगातार क्रोध का अनुभव करने से दमा का रोग हो गया। इस रोग के कारण न केवल उसे अपना जीवन भार रूप था, वरन् वह अपने पति के लिये भी भार बन गई थी। इस प्रकार उसने अपने पति से उसके प्रति अन्याय के लिये रोगी बन कर बदला लिया।

लेखक के एक प्रतिभावान छात्र को चार वर्ष तक लगातार सिर की

पीड़ा और आँख का रोग था। उसने अपनी पीड़ा के हरण के लिये सभी प्रकार के उपचार कराये, परन्तु रोग नहीं गया, अपितु बढता ही गया। आँख के रोग के लिये उसे बार-बार ऐनक बदलने पड़ते थे। उसके जीवन वृतान्त से पता चला कि उसके पिता ने मा के मरने के थोड़े ही काल बाद दूसरा विवाह कर लिया था। इस सौतेली मा की मां उसके पिता के घर पर ही रहती थी। यह अनेक प्रकार से इस बालक का तिरस्कार करती थी। वह छुट्टी का दिन प्रायः घर के बाहर ही काटता था। पिता भी अपनी स्त्री का ही पक्ष लेते थे। एक बार इस छात्र ने जब वह घर से दूर एक विद्यालय मे पढ़ रहा था कुछ अधिक रुपये पिता से मँगाये पिता ने रुपये उसे न भेजे। उसी समय उसने अपनी स्त्री को बहुत से रुपये साधारण सी आवश्यकता के लिये भेज दिये। इससे लड़के के स्वाभिमान को बहुत ठेस लगी और उसने पिता से रुपया मँगवाना बद कर दिया। उसने निश्चय किया कि वह स्वावलम्बी बनकर ही पढ़ेगा। उसने नौकरी कर ली और अत्यधिक परिश्रम किया। वह स्वावलम्बी बनने मे तो समर्थ हो गया परन्तु वह सिर की पीड़ा का स्थायी रोगी बन गया। जब इस छात्र की पूरी जीवनी को लिखाया गया, उसके स्वप्नो को जाना गया और उसे पिता का स्नेह दिया गया तो उसका रोग जाता रहा। इस रोग के कारण वह अपनी परीक्षायें पास नहीं कर पाता था और जीवन से निराश हो गया था। दलित भावो का रेचन हो जाने पर वह एक प्रतिभावान नागरिक बन गया। उसने विश्वविद्यालय की सर्वोच्च परीक्षायें पास कर लीं। प्रतिभावना के अभ्यास द्वारा अर्थात् मैत्रीभावना के अभ्यास से उसके पुराने क्रोध के संस्कारों को नष्ट किया गया। धीरे धीरे आत्मनिर्देश की सहायता से मन मे पड़े सभी अशुभ सस्कार नष्ट हो जाते हैं।

उपयुक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि मनुष्य के प्रबल अप्रकाशित क्रोध के भाव आख की ज्योति को नष्ट कर देते हैं। इससे सिर की पीड़ा तथा दूसरे रोग भी होते हैं। क्रोध अपने शत्रु का विनाश करना चाहता है।

क्रोध से आक्रान्त व्यक्ति अपने सामने के व्यक्ति को, जिससे वह क्रोध करता है, हटाना चाहता है और जब यह संभव नहीं होता तो उसके विचार उसी पर आघात कर देते हैं। इसके कारण मनुष्य अन्धा हो जाता है अथवा उसे सिर की पीड़ा, दमा या क्षय रोग हो जाता है।

लेखक की ट्रेनिंग कालेज की छात्रा अपने मानसिक रोग के विषय में एक दिन सलाह लेने आई। उसे क्षय रोग का विचार त्रास देता था। वह पूर्ण स्वस्थ थी और अपने आप को स्वस्थ समझती भी थी। उसने डाक्टरों से अपने शरीर की परीक्षा कराई। कहीं कोई रोग नहीं पाया गया। किन्तु एक डाक्टर ने कहा कि उसे क्षय रोग हो जाने की सम्भावना है। तबसे उसके मन मे क्षय रोग का विचार और दृढ़ हो गया। वह कहती थी "मैं मर जाऊँ यह भला है, पर इस विचार को नहीं आना चाहिए। मुझे मरने से भय नहीं है पर क्षय रोग का विचार किसी काम को नहीं करने देता है। इसलिये मैं इससे परेशान हूँ। मैं नहीं चाहती कि उसके विषय मे सोचूँ पर विचार आ ही जाता है। इतना ही नहीं मैं प्रति दिन संकल्प करती हूँ कि मै अपने शरीर का ताप नहीं लूँगी पर तिस पर भी ताप लेने का विचार मुझे शरीर का ताप प्रतिदिन लेने के लिए बाध्य करता है और अनिच्छा होते हुए भी मैं थरमामीटर अपने शरीर में लगाती हूँ और कितना बुखार मुझे है यह जाने बिना मुझे चैन नहीं मिलती। मैं देखती हूँ कि कुछ न कुछ ताप बढ़ा हुआ है। मैं स्वयं स्वस्थहूँ पर थरमामीटर मे एक डिग्री ताप अधिक रहता है।"

इसके अतिरिक्त उसने कहा कि मुझे रात को नींद कम आती है और स्वप्न भी देखती हूँ। महिला से बातचीत करने से पता चला कि वह अपने आचरण को आदर्श आचरण बनाना चाहती है। वह बात-बात में अपनी नुक्ताचीनी करती रहती है और किसी प्रकार की भूल के लिये अपने आप को खूब कोसती है। उसका दिन किसी दूसरी स्त्री

से मन्मुटाव हो गया। उस स्त्री ने उसे बहुत भला बुरा कह सुनाया। वह कुछ न बोली। पीछे उसकी मित्र महिलाओं ने उसके चुप रह जाने के लिये निन्दा की। इस कारण उसके मन में आत्म-ग्लानि उत्पन्न हुई। पीछे किसी दूसरी महिला से उससे लड़ने वाली महिला का झगड़ा हो गया। उस महिला ने उसे बहुत कुछ गालियाँ दीं। इसे सुनकर ट्रेनिंग कालेज वाली महिला को प्रसन्नता हुई। पीछे वह अपने आप को इसलिये कोसने लगी कि वह इतनी नीच है कि दूसरी महिला से वह बदला लेना चाहती है उनसे बातचीत करने पर पता चला कि उसे अपने पति के सख्त व्यवहार के कारण भी असंतोष है। वह इस असतोष के लिये अपने आप को ही कोसती रहती थी।

यहाँ हम देखते हैं कि महिला में अपने क्रोध के विचारों को दमन करने की प्रबल भावना है। उसकी नैतिक भावनाएँ बड़ी ही प्रबल हैं। सम्भव है इसका कारण बचपन में किसी बालिका से लड़ने पर डाँट डपट खायी हो। जिस प्रकार की प्रबल उत्तेजना का आत्म-ग्लानि के कारण दमन होता है उससे प्रतिकूल आचरण का व्यक्ति हो जाता है। जब लड़ाई का दमन किसी आत्म-भर्त्सना के कारण होता है तो एक ओर व्यक्ति के चेतन व्यवहार में बड़ी ही नम्रता आती है और दूसरी ओर उसे अनेक प्रकार की मानसिक बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। उसे आत्महत्या के विचार अथवा किसी प्रकार की कल्पित बीमारी के विचार भय के रूप आने लगते हैं। इन विचारों से जितना ही अधिक व्यक्ति लड़ता है वे विचार उतने ही प्रबल होते जाते हैं।

उक्त महिला के गुप्त भावों को सहानुभूति पूर्वक सुनने से और उसकी आत्म भर्त्सना की भावना शान्त करने से उसके क्षय रोग का अकारण भय समाप्त हो गया। वह फिर अपनी परीक्षा में कक्षा में सर्व प्रथम आई।

कितने ही रोगियो को मानसिक रोग के साथ-साथ शारीरिक रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं और कितने ही लोगों के मानसिक रोग रुपान्तरित

होकर शारीरिक रोग मात्र मे प्रकट होने लगते हैं। जब मानसिक रोग को दबाया जाता है तो मानसिक रोगों की वृद्धि हो जाती है। किसी भी प्रकार का शारीरिक अथवा मानसिक रोग दबी हुई भावना का प्रतीक होता है : क्षय रोग के विचार अथवा आत्महत्या के विचार क्रोध के दमन के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार क्षय रोग के कीटाणु मनुष्य के फेफड़ों को खा जाते हैं, उसी प्रकार दबी ईर्ष्या, क्रोध, आदि भावनाएँ मनुष्य की मानसिक शक्ति अथवा उसके मानसिक स्वास्थ्य को खा डालते हैं। झक के रूप मे क्षय रोग का विचार आना मानसिक क्षय का प्रतीक है। जब इस प्रकार के विचार का दमन होता है तो कोई दूसरा विचार झक के रूप मे आ जाता है अथवा कोई भयंकर शारीरिक बीमारी उत्पन्न हो जाती है।

स्वयं लेखक को एक बार क्षय रोग के विचार ने भारी त्रास दिया। वह जैसे जैसे उसे भूलने की चेष्टा करता था वह विचार और भी प्रबल होता जाता था। वह इस विचार को भुलाने के लिये अपने देहात के घर पर गया और वहां से अपनी ससुराल गया। वहाँ देखा कि उसकी सास क्षय रोग से मर रही है। इससे वह और भी घबड़ाया। उसने फिर उसी रात अपने मरने का स्वप्न देखा। अब तो उसने मरने की ही तैयारी कर ली। फिर उसे स्मरण आया कि उसके मन में अपने कालेज के अधिकारी के प्रति प्रबल क्रोध की भावना है। इसके विनष्ट कर देने पर क्षय रोग का भय जाता रहा। इस प्रकार का विचार तब तक नहीं गया जब तक उसे भुलाने की चेष्टा एकदम समाप्त नहीं हो गई।

किसी प्रकार के अशुभ विचारों को नष्ट करने के लिये अपनी गुप्त भावना का रेचन करना और मैत्री भावना का अभ्यास करना आवश्यक होता है। अप्रकाशित क्रोध के विचार ही भयंकर बीमारी के विचार में परिणत हो जाते हैं। जब मनुष्य चुपचाप बैठकर अपने पुराने अनुभव को स्मरण करने की चेष्टा करता है तो उसे ज्ञात होता है कि उसके मन में

किसी प्रकार की गाँठ वर्तमान है। किसी व्यक्ति के प्रति क्रोध आ जाने पर और विचार के प्रकाशित न होने पर ही एक मनुष्य मे सुशीलता के भावों की वृद्धि होती है और दूसरी ओर किसी प्रकार की झक उत्पन्न हो जाती है। सुशीलता उसके बाहरी आचरण और विचारों मे रहती है और झक की जड़ उसके अचेतन मन मे रहती है। झक दूसरे का विनाश न कर अपने ही विनाश के भाव मन मे लाती है। मनुष्य के पर-घात और आत्मघात के विचार एक दूसरे के पूरक होते हैं। जिस व्यक्ति के मन में जितने ही प्रबल दूसरे के विनाश के विचार आते हैं उसके आत्मघात के विचार जो झक के रूप मे प्रकाशित होते हैं उतने ही प्रबल होते हैं। पहले प्रकार के विचार ही रूपांतरित होकर दूसरे प्रकार विचारों में प्रकाशित होते हैं। लेखक को जब क्षय रोग की झक हुई थी, उसके पूर्व उसे अपने एक अधिकारी के प्रति भारी क्रोध हुआ था और वह अपने क्रोध को किसी प्रकार प्रकाशित नहीं कर सका था। इस प्रकार के अप्रकाशित विचारों मे अधिकारी की एक ओर भारी क्षति हुई और दूसरी ओर स्वयं लेखक में क्षय रोग की झक उत्पन्न हो गई। इस प्रकार की झक का अन्त उक्त अधिकारी के प्रति मैत्री भावना का अभ्यास करके हो गया।

क्रोध के विचारों का दमन दो प्रकार से होता है। एक परिस्थिति अनुकूल न रहने से और दूसरी नैतिक भावनाओं के प्रबल रहने से। प्रतिकूल परिस्थिति के कारण किसी प्रकार के विचारो का दमन इतना घातक नहीं होता जितना नैतिक भावनाओं के द्वारा दमन होने से घातक होता है। नैतिक भावनाओं के प्रबल होने पर क्रोध के प्रकाशन में मनुष्य आत्म-भर्त्सना को भुलाने की चेष्टा करता है। इसके कारण उसके अवांछनीय विचारों का दमन होता है, इस प्रकार के दमन के परिणाम स्वरूप ही मनुष्य को शारीरिक अथवा मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

जब मनुष्य की गुप्त मानसिक ग्रन्थि का रेचन होता है तो मनुष्य

की नैतिक भावनाएँ पहले जैसी उच्च नहीं रहतीं। क्रोध के दमन के कारण जो सुशीलता आचरण में आ जाती है वह नष्ट हो जाती है। ऊपरी दृष्टि से देखने से मानसिक ग्रन्थि के रेचन के परिणामस्वरूप मनुष्य के चरित्र का पतन होता है। पर अब उसके ठोस चरित्र की नींव पड़ती है। किसी प्रकार के मानसिक रेचन से मनुष्य की प्रकाशित नैतिक भावनाओं मे शिथिलता आती है। इस प्रकार की शिथिलता का अन्त मैत्री भावना के अभ्यास से होता है। इनके अभ्यास से मनुष्य के आचरण मे स्थायी सुधार हो जाता है। इस प्रकार का अभ्यास मनुष्य की पुनः शिक्षा कहलाता है।

क्रोध के भावों के दमन से मनुष्य मे आत्महत्या की भावनायें प्रबल हो जाती है। ऐसी अवस्था में उसे मेलेन्कोलिया का रोग हो जाता है। यह रोग मनुष्य को जीवन से निराश और निकम्मा बना देता है। यदि ऐसे रोगी के प्रति सहानुभूति का व्यवहार किया जाय तो उसका रोग कम हो जाता है, परन्तु इस समय बड़ी सावधानी की आवश्यकता होती है। जब क्रोध के भावो को रोकनेवाली सत्ता से छूट मिलती है तो ये भाव सब से नजदीक के व्यक्ति के प्रति ही प्रकाशित होते हैं और इस समय रोगी अकारण ही अपने कल्याणकर्त्ता के प्रति रोष प्रगट करने लगता है। यदि इस समय क्रोध का बदला क्रोध मे न दिया गया तो रोगी आरोग्यवान हो जाता है अन्यथा उसका रोग और भी बढ़ जाता है।

कुछ दिन पूर्व लेखक के पास एक नव युवक अपनी पत्नी के साथ आया। इसे मेलेन्कोलिया का रोग था। उसकी पत्नी ही उसकी सब से अधिक चिन्ता करती थी। रोग पिता के प्रति क्रोध के दमन के कारण उत्पन्न हुआ था। मनोविज्ञानशाला के उपचार के परिणाम स्वरूप उसका रोग हल्का हुआ। वह फिर अपनी नौकरी पर चला गया। परन्तु वह अब अपनी पत्नी को ही अनेक प्रकार से त्रास देने लगा। वह एक बार पत्नी के प्रति क्रोध प्रगट करता था और फिर अपने प्रति। इस तरह

उसका जीवन दुःखी रहता था। पत्नी को सलाह दी गई थी कि वह इस व्यवहार को सह ले क्योंकि इससे उसके पति का रोग समाप्त हो जावेगा। रोगी की पत्नी एक बड़ी ही समझदार और कर्तव्य परायणा स्त्री है। उसने अपने पति के दुर्व्यवहार को उसके कल्याणार्थ सह लिया। इसके परिणामस्वरूप उसका रोग धीरे धीरे समाप्त हो गया।

किसी भी व्यक्ति का मानसिक रोग पूर्णतः तभी जाता है जब एक ओर उसकी दमित भावना का रेचन हो और दूसरी ओर उसकी पुनः शिक्षा हो। ये दोनों ही काम एक साथ होते रहते हैं। मनुष्य के प्रबल आवेग दमित हो जाने पर उतने ही हानिकारक होते हैं जितने वे प्रकाशित होने पर हानि का कारण होते हैं। भय और क्रोध के आवेग जब प्रबल होते हैं तब वे मनुष्य की बुद्धि बे ठिकाने कर देते हैं। इनका एकाएक दमन हो जाने पर मानसिक ग्रन्थि बन जाती है। यह अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोगों में प्रकाशित होती है। इन्हें संयत रखने के लिये सदा रचनात्मक कार्य में लगे रहना आवश्यक है।

ग्यारहवाँ प्रकरण

निद्रा और स्वास्थ्य

निद्रा की आवश्यकता

निद्रा मनुष्य के मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकार के स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है। मनुष्य जो कुछ अन्न अपने मुख से खाता है उससे उसके शरीर मे शक्ति आती है और अपनी ज्ञानेन्द्रियो से जो कुछ ग्रहण करता है उससे उसके मन को नया भोजन मिलता है। परन्तु यदि मनुष्य को नींद न आये तो न तो उसका शारीरिक भोजन और न उसका मानसिक भोजन ही उसके भौतिक और मानसिक व्यक्तित्व को वलवान बनाता है। निद्रा के समय हमारे व्यक्तित्व मे वाहर से आने वाली प्रत्येक वस्तु हमारे स्वभाव का अग बन जाती है।

जाग्रतावस्था मे मनुष्य की चेतना कार्य करती है। इस अवस्था मे मनुष्य अनेक प्रकार के पुरुषार्थ करता है। इसके परिणामस्वरूप उसे अनेक प्रकारके पदार्थों की और ज्ञान की प्राप्ति होती है। निद्रावस्था मे मनुष्य की चेतना शान्त हो जाती है। इस अवस्था मे जो कुछ होता है उसमे मनुष्य का पुरुषार्थ नहीं रहता यह सब प्रकृति की कृपा से होती है। इस समय मनुष्य का व्यक्तित्व प्रकृति से ही नवशक्ति प्राप्त करता है और प्रकृति मनुष्य की अचेतनावस्था मे उसके शरीर और मनकी उन कमियों की पूर्ति कर देती है जिनकी पूर्ति करना स्वय मनुष्य के पुरुषार्थ के वाहर है। निद्रा की अवस्था में ही मनुष्य के शरीर मे स्थित अनेक ग्रन्थियाँ जीवन दायी रसों का स्राव करती हैं। इन अमृत रसो के स्राव के कारण ही मनुष्य के शरीर की वृद्धि होती है, उसकी पाचनक्रिया सुचारू से होती है, उसके मुख पर कान्ति आती है और उसमे यौवन के लक्षण प्रतीत

होते हैं। निद्रा मे विघ्न पड़ने पर अमृत रसों का स्राव मन्द हो जाता है, इससे पाचनक्रिया धीमी हो जाती है, शरीर मे स्थित अनेक प्रकार के जहरीले कीटाणुओं की वृद्धि इस समय हो जाती है और इसके कारण मनुष्य तेजहीन और बलहीन हो जाता है। निद्रा मनुष्य की अनेक प्रकार की शारीरिक शक्तियों को संगठित करती है और इन शक्तियों को विकास की ओर गतिवान करती है।

जिस प्रकार निद्रा शारीरिक शक्ति की वृद्धि और उसके सुसंगठन का सर्वोत्तम साधन है इसी प्रकार वह मनुष्य के मानसिक विकास और सगठन का भी साधन है। मनुष्य की जाग्रतावस्था में अनेक प्रकार की इच्छायें उसके मनमे आती हैं इन इच्छाओं से प्रेरित होकर वह अनेक प्रकार के ज्ञान का संचय करता है। इच्छाओं से प्रेरित होकर ही भौतिक धन के संग्रह की चेष्टा करता है। विभिन्न प्रकार की उसकी इच्छाओ मे आपसमे विरोध होता है। एक विद्यार्थी परीक्षा के लिये पढ़ना चाहता है अपने सम्बन्धी से मिलने जाना चाहता है, सिनेमा देखना चाहता है, किसी दूसरे विद्यार्थी से अपने अपमान का बदला लेना चाहता है। इसी प्रकार अनेक इच्छायें एक साथ उसके मन मे चलती रहती हैं। कभी-कभी सभी इच्छायें एक साथ उसके मनमे उभड़ आती हैं और वह इनसे परेशान हो जाता है। कभी कभी जब वह एक काम मे लगा रहता है तो उसकी उस काम से प्रसंग न रखने वाली इच्छायें उसके मनमे आकर उस काममें बाधा डालने लगतीं हैं। इस प्रकार वह किसी भी काम को सफलता से नहीं कर पाता। मनुष्य की इस प्रकार की विरोधी इच्छाओं मे निद्रा समन्वय स्थापित कर देती है।

जब तक मनुष्य को नींद आती रहती है उसके जीवन का सन्तुलन नहीं बिगड़ता। जब मनुष्य अपनी नींद को खो देता है तो उसके जीवन का सन्तुलन बिगड़ जाता है। निद्रा का आना सन्तुलित जीवन का प्रतीक है। जिस मनुष्य के राग द्वेष अति प्रबल होते हैं, जो काम, क्रोध, लोभ

भय, ईर्ष्या के विचारों में सदा मनको खो देता है। वह निर्विघ्न नहीं सो पाता। जिस प्रकार नींद के आने से मानसिक उद्वेग और प्रबल आवेग शान्त होते हैं उसी प्रकार प्रबल आवेगों के और इच्छाओं के शान्त होने से निद्रा जल्दी से आ जाती है।

निद्रा केवल मनुष्य के भावों और इच्छाओं मे संगठन नहीं उत्पन्न करती है वरन् वह उसके ज्ञान को भी संगठित करती है। निद्रा की अवस्था मे मनुष्य का दिन भर का सचित ज्ञान एक नया ही रूप ले लेता है। निद्रा की अवस्था में मनुष्य का बहुत सा अनुपयोगी ज्ञान समाप्त हो जाता है और उपयोगी ज्ञान उसकी बुद्धि का अंग बन जाता है। जिस प्रकार नींद भोजन को पचाने का साधन है उसी प्रकार वह ज्ञान को भी पचाने का साधन है। जो व्यक्ति अपनी जाग्रतावस्था मे और सुप्तावस्था में योग्य सन्तुलन नहीं रखते वे शीघ्र ही शारीरिक अथवा मानसिक रोग से ग्रथित हो जाते हैं। जो विद्यार्थी अपनी पढ़ाई मे इतने अधिक सलग्न रहते हैं कि निद्रा के लिये समय नहीं पाते वे अपने ज्ञान का उपयोग नहीं कर पाते वे परीक्षा के समय वेहद घबड़ा जाते हैं। वे अपनी निद्रा को बिल्कुल ही खो देते हैं और जब वे परीक्षा मे बैठते हैं तब अपने व्यर्थ के विचारों को अपने नियन्त्रण मे नहीं रख पाते। उनकी स्मृति बिगड़ जाती है। कभी-कभी ऐसे विद्यार्थी अपनी बहुत ही अधिक याद की हुई बात को भूल जाते हैं। ऐसा होने पर अपने आत्मविश्वास को खो देते हैं। आत्म-विश्वास को खोने पर मनुष्य की स्मरण शक्ति और बुद्धि उसके काबू मे नहीं रहती। कितने ही अत्यधिक अध्ययन करने वाले विद्यार्थी परीक्षा में असफल होने पर विक्षिप्त हो जाते हैं।

लेखक का एक विद्यार्थी अपने विद्याध्ययन मे बहुत ही अधिक समय देता था। वह अपना थोड़ा समय भी खेल-कूद मे और मनोरंजन मे नहीं देता था। वह प्रतिदिन ग्यारह बजे रात को सोता और चार बजे उठ जाता था। उसने इस प्रकार का क्रम पूरे साल निबाहा परन्तु परीक्षा

के कुछ ही दिन पूर्व उसे अनुभव हुआ कि जो कुछ वह पढ़ता है उसे याद नहीं होता। इससे वह घबड़ा गया। इस घबड़ाहट के कारण उसकी नींद जाती रही। विद्यार्थी बहुत गरीब था और परीक्षा में फेल हो जानेके डर का सामना नहीं कर सकता था। जब उसे अनिद्रा का रोग आया तब उसका धैर्य और भी छूट गया और वह अपने साल भर पढ़े हुए विषयों को बड़ी शीघ्रता के साथ भूलने लगा। उसने बड़ी कठिनाई से परीक्षा के पहले प्रश्नपत्र को लिखा, परन्तु दूसरे दिन वह परीक्षा भवन तक ही न जा सका और अन्त में फेल हो गया जिसमें साधारणतया कोई विद्यार्थी फेल नहीं होता।

ऊपर कहा गया है कि निद्रा मनुष्य के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को बनाती है। निद्रा की अवस्था में मनुष्य अपने दुखों को भी भूल जाता है। जब मनुष्य को किसी प्रकार का दुख, चाहे वह शारीरिक हो अथवा मानसिक, ग्रस्त कर ले तो उसे नींद नहीं आती और यदि उसे नींद आ जाय तो उसका दुख अवश्य कम हो जाता है। साधारणतः रोगी मनुष्य जितना सोता है वह उतना ही स्वास्थ्य लाभ करता है। सोने की अवस्था में किसी प्रकार की शारीरिक क्षति की पूर्ति शीघ्रता से होती है यदि किसी रोगी के शरीर में फोड़ा है तो डाक्टरी चिकित्सा इतना ही करती है कि फोड़े में सदा विषैले कीटाणुओं को नष्ट कर दे और वातावरण के विषैले कीटाणुओं को घाव पर न बैठने दे। घाव को भरने का काम स्वतः प्रकृति ही करती है और यह पूर्ति भोजन और निद्रा से होती है।

जिस प्रकार निद्रा शरीर के घावों को भरती है उसी प्रकार वह मन के घावों को भी भरती है। शारीरिक रोगों की अपेक्षा मानसिक रोग कहीं अधिक दुखद होते हैं और इन रोगों को हटाने में निद्रा जितना काम करती है उतना काम वह शारीरिक रोगों को हटाने मे नहीं करती। प्रत्येक मानसिक रोगी को किसी न किसी प्रकार से निद्रा में बाधा रहती है। कितने तो अनिद्रा रोग से ही पीड़ित रहते हैं। यदि इन रोगियों को ठीक

से नींद आने लगे तो उन्हे कोई मानसिक रोग न रह जाय। रोग के मानसोपचार का एक प्रमुख साधन रोगी को निद्रित करना है।

निद्रा की अवस्था मे मनुष्य की शक्ति संचित होती है। हम जो कुछ देखते सुनते, समझते और करते हैं उससे हमारी सभी शक्तियों का ह्रास होता है। हमारी चेतना प्रकाश देने वाले बल्व के समान है। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ विभिन्न प्रकार के विद्युत् के बल्व है। जितनी ही हमारी ज्ञानेन्द्रियाॅ काम करती हैं उनसे हमारी मानसिक शक्ति उसी प्रकार खर्च होती है, जिस प्रकार बल्व के जलने से विद्युत् शक्ति खर्च होती है। हमारी कर्मेन्द्रियो के द्वारा भी शारीरिक और मानसिक शक्ति उसी प्रकार खर्च होती है जैसे मशीन चलाने मे विद्युत् शक्ति कम होती है। मनुष्य की अचेतनावस्था मे उसकी सभी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेंद्रियाँ अपने सभी व्यापार बन्द कर देती हैं। कभी-कभी मन भी शान्त हो जाता है। ऐसी अवस्था मे उसके शक्ति का कम होना भी बन्द हो जाता है। फिर यह संचित शक्ति जिस ओर लगा दी जाती है मनुष्य उस ओर सफलता प्राप्त करने लग जाता है। इसी शक्ति के कारण मनुष्य शीघ्रता से शारीरिक अथवा मानसिक स्वास्थ्य लाभ करता है और इसी के कारण वह नये उत्साह के साथ किसी काम को करता है। मानसिक शक्ति के अभाव मे मनुष्य पुरुषार्थहीन और निराशावादी बन जाता है। उसे सब ओर अन्धकार दिखाई देता है।

निद्रा के सिद्धान्त

मनोविज्ञान और शल्य-शास्त्र के विद्वानों ने निद्रावस्था के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार के सिद्धान्तों का निरुपण किया है। इन सिद्धान्तों में अभी तक कोई एक मत प्रतिपादित नहीं हुआ। कुछ विद्वानों के मतानुसार निद्रा थकावट की अवस्था है। दिन भर काम करने के परिणाम—स्वरूप मनुष्य के शरीर के बहुत से कोष्ठ (सेल्स) टूट जाते हैं। ये टूटे हुए

कोष्ठ जहरीले पदार्थ बन जाते हैं। जब ये पदार्थ पर्याप्त मात्रा मे मस्तिष्क में पहुँच जाते हैं तो मनुष्य को निद्रा का भान होने लगता है। इस दृष्टि से थकावट ही निद्रा का कारण है। परन्तु इस सिद्धान्त की त्रुटि इस बात में देखी जाती है कि जब मनुष्य अत्यधिक थका रहता है तो उसे निद्रा ही नहीं आती। चिन्ताग्रस्त व्यक्ति का मन अत्यधिक थकावट की अवस्था मे रहता है परन्तु इस प्रकार की थकावट निद्रा मे बाधक होती है। इसी तरह जो विद्यार्थी आधी रात तक भी पुस्तक पढ़ते रहते हैं वे बहुत थक जाते हैं परन्तु उनकी यह थकावट ही निद्रा मे बाधक बन जाती है।

कुछ विद्वानों के मतानुसार निद्रा का कारण थकावट नहीं, वरन् मस्तिष्क मे रुधिर के प्रवाह की कमी होती है। जब रुधिर के प्रवाह की आवश्यकता दूसरी ओर होती है तो स्वतः ही मस्तिष्क की ओर रुधिर का प्रवाह कम हो जाता है अर्थात् मष्तिष्क की ओर शक्ति का प्रवाह नहीं रहता। इसी कारण मनुष्य के मस्तिष्क की गति मन्द हो जाती है और उसे नींद आ जाती है। यह सिद्धान्त भी निद्रा के विषय मे पर्याप्त प्रकाश नहीं डालता। यह बात सत्य है कि यदि मनुष्य की चिन्तन क्रिया कुछ समय के लिये शान्त हो जाय तो उसके शरीर के दूसरे अवयवो की क्षति पूर्ति शीघ्रता से हो, परन्तु किस प्रकार मनुष्य की चिन्तन क्रिया शान्त होती है और उसे कैसे नींद आ जाती है यह बताया नहीं जा सकता।

आधुनिक काल के मनोवैज्ञानिको ने निद्रा के विषय मे जो सबसे उत्तम सिद्धान्त निर्धारित किया है वह है उसे प्राकृतिक प्रवृत्ति मानना डा० विलियम ब्राउन और फिशर महाशयो ने निद्रा को एक मूल प्रवृत्ति (इन्सटिंक्ट) माना है। जिस प्रकार मनुष्य को कामेच्छा और भोजन की इच्छा होती है इसी प्रकार उसे नींद की भी इच्छा होती है। और जिस प्रकार अन्य प्रकार की इच्छाओ की अवहेलना से जीवन का सन्तुलन बिगड़ जाता है, उसी प्रकार नींद की इच्छा की अवहेलना से भी जीवन का सन्तुलन बिगड़ जाता है। वास्तव मे नींद की प्रवृत्ति दूसरी

सभी प्रवृत्तियों में सन्तुलन स्थापित करने का एक प्राकृतिक उपाय है। निद्रा मनुष्य की निरावलम्ब बननेकी इच्छा की द्योतक है। यह जीनेके लिये उतनी ही आवश्यक है जितनी कि मनुष्य की प्रकृति से लड़ने की क्रियायें।

निद्रा के विषय मे प्राणी विज्ञान का एक अपना ही सिद्धान्त है। प्राणी विज्ञान के अनुसार निद्रा मनुष्य को आत्म-विनाश से बचाने का एक उपाय है। मनुष्य यदि अन्धकार में सो जाय तो वह इधर उधर घूमेगा और अनेक प्रकार की क्रियायें करेगा। जब मनुष्य अन्धकार में उसी प्रकार की क्रियायें करेगा जिस प्रकार की वह प्रकाश में करता है तो उसके विनष्ट होने की सम्भावना है। मनुष्य को अन्धकार मे जगली जानवरों जैसा दिखाई नहीं देता वह उन पर ऐसी अवस्था मे विजय प्राप्त नहीं कर सकता। यदि वह अन्धकार में इधर उधर घूमे तो उसे जगली जानवर मार डालें। घूमते समय वह कहीं भी टकरा सकता है या चट्टान से फिसल कर गिर सकता है। अतएव मनुष्य की आत्म-रक्षण की प्रवृत्ति ने ही उसे अपनी सभी क्रियाओं को नियन्त्रित करने के लिये प्रेरणा देती है और वह रात मे अन्धकार होते ही सो जाता है। अन्धकार पर विजय मनुष्य ने थोड़े ही काल पूर्व प्राप्त की है, परन्तु लाखों वर्ष का अभ्यास उसके स्वभाव का अग बन गया है। इसलिये आब जब रात को बिजली प्रकाश उपलब्ध है, मनुष्य रात होने पर सो जाता है।

उपर्युक्त निद्रा के सम्बन्ध मे सभी सिद्धान्तों मे कुछ न कुछ सचाई है, परन्तु कोई भी सिद्धान्त सम्पूर्ण सत्य को नहीं दर्शाता। इन सिद्धान्तों को जानकर हम निद्रा को लाने मे सफल हो सकते हैं और अपने आप को और दूसरों को अनिद्रा के रोग से बचा सकते हैं।

इस सिद्धान्त मे मौलिक सत्य है कि मनुष्य को थकावट से निद्रा आती है। परन्तु थकावट जब अत्यधिक हो जाती है तब वह निद्रा में बाधक होती है। इस सिद्धान्त को जान कर हम प्रतिदिन सम्यक शारीरिक व्यायाम करके निद्रा प्राप्त कर सकते हैं। थोड़ा बहुत मानसिक व्यायाम

भी निद्रा लाने में सहायक होता है। विद्यार्थियों को नियमित रूप से व्यायाम और अध्ययन करना चाहिये। जो विद्यार्थी व्यायाम की अवहेलना करते हैं वे सुख की नींद नहीं सो पाते। जितनी अच्छी नींद किसान और दूसरे श्रमजीवी लेते हैं उतनी अच्छी नींद धनी वर के आराम से रहने वाले लोगों को नहीं आती। बौद्धिक परिश्रम जब सीमित रहता है तो निद्रा मे बाधा नहीं डालता। यदि ऐसे परिश्रम से आनन्द की उत्पत्ति हो तो वह निद्रा में सहायक होता है। परन्तु जब यही परिश्रम महत्वाकांक्षा, भय अथवा चिन्ता से प्रेरित होकर अत्यधिक बढ़ जाता है तो वह मनुष्य की निद्रा का हरण कर लेता है और उसके स्वास्थ्य का विनाश कर डालता है।

निद्रा विषयक दूसरे सिद्धान्त से हमे एक शिक्षा निद्रा के लाने के विषय मे मिलती है। यदि मनुष्य के मस्तिष्क को किसी प्रकार आराम दिया जाय तो उसे निद्रा आ जायेगी। रात को भोजन करने के पश्चात् हमें स्वभावतः निद्रा आती है क्योंकि मनुष्य की अधिक मानसिक शक्ति पेट का भोजन पचाने मे लग जाती है चाहे दोपहर का समय हो चाहे रात का। मनुष्य को भोजन के बाद गम्भीर चिन्तन नहीं करना चाहिये। इस प्रकार का चिन्तन शक्ति के प्राकृतिक प्रवाह के प्रतिकूल होता है। इससे एक ओर मस्तिष्क को आराम नहीं मिलता और दूसरी ओर पेट की ओर शक्ति का प्रवाह जाने से रुक जाता है और इससे पेट की पाचन क्रिया मन्द हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप एक ओर मनुष्य को पेट के रोग हो जाते हैं और दूसरी ओर उसे अनिद्रा का रोग हो जाता है।

निद्रा विषयक तीसरे सिद्धान्त से हमे शिक्षा मिलती है कि हम नित्य प्रति सभी प्रकार की चेष्टायें करके एक समय सभी प्रकार की चेष्टायें छोड़ दे और अपने आप को प्रकृति मां की गोद मे डाल दें। जो मनुष्य प्रकृति की महान् शक्ति मे विश्वास करता है और यह

मानता है कि प्रकृति उसका सब से अधिक कल्याण करती है वह अनिद्रा के रोग से पीड़ित नहीं होता। अनिद्रा का रोग उन व्यक्तियों को होता है जो अपने व्यक्तिगत पुरुषार्थ में अत्यधिक विश्वास करते हैं, जो महत्वाकांक्षी हैं और अपने कर्मों का फल तुरन्त प्राप्त करना चाहते हैं। धैर्यवान्, संयमी और सत्य की विजय मे विश्वास करने वाले व्यक्ति को अनिद्रा का रोग नहीं होता। मनुष्य को अपने आप को सभी प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त करते रहना दीर्घ जीवी बनने के लिये आवश्यक है, क्योंकि ऐसी अवस्था मे ही मनुष्य को निद्रा आ सकती है। सदाचारी पुरुष ही अच्छी निद्रा का उपभोग कर सकता है।

निद्रा के चतुर्थ सिद्धान्त से निद्रा लाने में सहायता मिलती है। जब निद्रा के बाहरी सांगोपांग जुट जाते हैं तो मनुष्य को निद्रा आ जाती है। गाढ़ी निद्रा के लिये प्रकाश से अन्धकार अधिक अनुकूल है। इसी प्रकार आवाज की जगह शान्त वातावरण जंगल की जगह घर, खूब कपड़े पहनने के बदले कम से कम और ढीले कपड़े पहनना, बैठने की जगह लेटना और शरीर कड़ा रखने की जगह शैथिलीकरण अधिक सहायक है। निद्रा के लाने के विषय में अनेक प्रकार के प्रयोग किये गये हैं। जब किसी बच्चे को धीमें प्रकाश मे अथवा अन्धकार में नरम बिस्तर पर लिटा दिया जाता है और उसे आँख बन्द करके अपने अंगों को शिथिल करने का निर्देश दिया जाता है तब उसे सरलता से नींद आ जाती है। यदि बालक को इस बीच धीरे धीरे थपथपाया जाय अथवा उसके ऊपर धीरे धीरे हाथ फेरा जाय तो उसे और भी जल्दी से नींद आ जाती है। इस प्रकार आराम की सुरक्षित शैथिलीकरण की अवस्था में यदि किसी प्रौढ़ व्यक्ति को धीरे धीरे कहा जाय कि उसे नींद आ रही है तो उसे अवश्य ही नींद आ जाती है। कभी कभी नींद लाने के लिये किसी एक सी होने वाली धीमी आवाज पर चित्त को लगा देने से नींद जल्दी से आ जाती है।

निद्रा के बाधक

नींद के विनाशक कारण दो प्रकार के होते हैं—भौतिक और मानसिक। भौतिक कारणों मे शारीरिक उत्तेजना, पीड़ा, अत्यधिक थकावट, और शारीरिक रोग हैं। मनुष्य का वातावरण भी निद्रा के लाने में अथवा उसके मिटाने मे कारण बनता है, परन्तु वातावरण मनुष्य के शरीर अथवा मन को प्रभावित करके ही कारण बनता है। जो लोग बाहरी शान्त वातावरण मे रहते हैं वे अशान्त वातावरण की अपेक्षा अधिक भली प्रकार से सो सकते है। कितने ही लोगो का घर का वातावरण जब अशान्त हो जाता है तब वे तब घर छोड़ देते हैं। फिर वे सुख की नींद सोने लगते हैं। परन्तु कभी कभी एकान्त मे जाकर मनुष्य मानसिक सन्तोष का अनुभव करने लगता है और सुख की नींद न सोकर नींद को खो ही देता है। निद्रा के लिये मानसिक परिस्थितियों की अनुकूलता बाहरी परिस्थितियो की अपेक्षा अधिक आवश्यक है। फैक्टरी मे काम करने वाले लोग कभी कभी समय मिलने पर पूरे शोरगुल में भी सो लेते हैं। मन की निश्चिन्तता ही निद्रा लाने का प्रमुख साधन है।

निद्रा मे बाधा डालने वाले मानसिक कारण भय, चिन्ता, क्रोध, ईर्ष्या, आत्म-ग्लानि और शोक आदि प्रबल मनोभाव हैं। ये भाव मन में भारी हलचल मचा देते हैं। इस हलचल के कारण मनुष्य को नींद नहीं आती। जो मनुष्य इन भावों पर अधिकार प्राप्त करता है वह अपनी इच्छा के अनुसार निद्रा को बुला लेता है। इन भावों पर संयम प्रति-भावना के अभ्यास से होता है। क्रोध, ईर्ष्या और भय का विनाश, मैत्री भावना के अभ्यास से होता है। इससे मनुष्य मे निराशा के भाव का भी निराकरण होता है। आत्म-ग्लानि और शोक के भावों का निराकरण ससार की अनित्यता पर बार बार विचार करने से होता है। मनुष्य के मन में अनेक प्रकार के प्रबल उद्वेग इसीलिये उठते हैं कि वह

भिन्न प्रकार की ममता में पड़ा हुआ है और विशेष प्रकार का अभिमान करता है। जो मनुष्य संसार के पदार्थों का मानसिक त्याग कर देता है, जो अपनी इन्द्रियों को पहले से ही सयम मे रखता है उसे बुद्धि विनाशक आवेग नहीं हिलाते। वह इन वायु के झकोरों को सह लेता है। ऐसा व्यक्ति अपनी निद्रा को सरलता से नहीं खोता।

संसार के जितने आध्यात्मिक साधन के मार्ग हैं उन सबका उद्देश्य मनुष्य को अपने मन पर अधिकार प्राप्त कराना है। जो व्यक्ति नित्य प्रति किसी न किसी प्रकार की साधना करता रहता है वह लौकिक मोह से व्याप्त नहीं होता। वह जानता है कि संसार मे आवागमन लगा ही है। ऐसा ही व्यक्ति समय पर सोता है और समय पर जाग जाता है। जिस व्यक्ति का जीवन बचपन से ही नियमित रूप से चलते रहता है उसे निद्रा के आने मे कठिनाई का अनुभव नहीं करना पड़ता। जो व्यक्ति नियमित समय पर सोता है और नियमित समय पर जागता है वह न केवल सोने जागने के विषय मे संयत रहता है वरन् उसके दूसरे काम भी नियमित रूप से होने लगते हैं। नियमित रूप से काम करने वाले व्यक्ति का मन एक ही बात को बहुत देर तक नहीं सोचता। इसके कारण ऐसे व्यक्ति के मन मे वे मानसिक ग्रन्थियाँ उत्पन्न नहीं होतीं जो अनियमित जीवन के व्यक्ति के मन मे उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसे व्यक्ति को आधुनिक काल के अनेक प्रकार के मानसिक रोग भी नहीं होते।

जिस प्रकार मनुष्य के आवेग उसकी निद्रा का हरण कर लेते हैं उसी प्रकार उसकी मानसिक ग्रन्थियाँ भी उसकी निद्रा मे बाधक होती है। किसी प्रकार की प्रबल भावना दमित होने पर मानसिक ग्रन्थि बन जाती है। एक गुरुकुल कांगड़ी के विद्यार्थी को जो बड़ा अच्छा खिलाड़ी था अपनी टीम के साथ फुटबाल मैच खेलने के लिए दिल्ली से निमंत्रण मिला। टीम के दूसरे खिलाड़ियों की अपेक्षा कद मे छोटा होने के कारण टीम के कप्तान ने उसे छाँट दिया। उसके बाकी साथी हरिद्वार से

दिल्ली चले गये वे एक सप्ताह मे लौट कर आये। तब तक यह विद्यार्थी जब भी सोता था अपनी निद्रावस्था मे जोर जोर से इस प्रकार चिल्लाता था मानों वह खेल के मैदान मे खेल रहा अथवा खेल देख रहा है। एक दूसरे विद्यार्थी को मूर्छा का रोग हो गया था। इसके जीवन के अध्ययन से पता चला कि उसका प्रेम एक सम्पन्न घर की लड़की से था। इसको घर के लोगों ने जान लिया, जब यह लड़का सो रहा था तो लड़की का भाई उस लड़के के कमरे मे एकाएक छुरी लेकर आया और उसने उसे निद्रा से जगा कर बुरी तरह भयभीत कर दिया। इस घटना को इस विद्यार्थी ने न किसी से कहा और न उसे अपनी स्मृति में ही रक्खा। आत्म-ग्लानि की भावना से सम्बद्ध होने के कारण यह घटना भूल गई, परन्तु वह भय की मानसिक ग्रन्थि के रूप मे विद्यार्थी के मन मे बैठ गई। इसके कारण इस विद्यार्थी को सोते समय अचानक ही मूर्च्छा हो जाती थी।

निद्रा मे क्षति किसी प्रकार की हानि होने से, अपमानित होने और अपने स्नेही व्यक्ति से झगड़ा हो जाने से भी हो जाती है। कुछ दिन पूर्व हमारे पास एक विद्यार्थी अनिद्रा की शिकायत लेकर आया। उसे अपनी सारी जीवनी बताने को कहा गया था। उसे पहले तो अपने पिता का काफी भय था, दूसरे उसका हाल में कुछ झगड़ा अपने एक मित्र से हो गया था। अपने मनोभावों को प्रकाशित करने से वे कम हो जाते हैं। अतएव जब उस विद्यार्थी की मानसिक वेदना को सहानुभूति पूर्वक सुन लिया गया तो उसके मन मे कुछ शान्ति आ गई। फिर उससे अपने मित्र के प्रति मैत्री भावना का अभ्यास कराया गया। कुछ दिन मे ही दोनों व्यक्ति फिर मित्र बन गये। पिता के प्रति भी मैत्री भाव का अभ्यास कराया गया। इससे उसका रोग जाता रहा। अनिद्रा से मानसिक अशान्ति और भी बढ़ जाती है और मनुष्य अपनी स्मरण शक्ति तथा चित्त की एकाग्रता को खो देता है। इस विद्यार्थी ने इन्हे खो दिया था। ये फिर से ठीक हो गये।

किसी प्रकार की पाप भावना से मनुष्य अपनी निद्रा को खो देता है। पाप भावना ही मानसिक ग्रन्थि बन जाती है। मनुष्य अपने पाप को भुलाना चाहता है। वह इसमें जब सफल हो जाता है तो अपनी निद्रा को खो देता है। जो व्यक्ति दूसरे लोगों का किसी प्रकार का नुकसान अकारण ही करते हैं, अपनी अन्तरात्मा के प्रतिकूल चोरी, हत्या अथवा व्यभिचार कर डालते हैं वे अनेक प्रकार की मानसिक ग्रन्थियों से पीड़ित रहते हैं। ऐसे व्यक्ति निद्रा को खो देते हैं। शेक्सपीयर के मैकबेथ नामक नाटक में लेडी मैकबेथ ने लोभवश निर्दोष राजा डन्कन की, जो उसका अतिथि था, अपने पति से हत्या करवा डाली। फिर इस हत्या को छिपाने के लिये मैकबेथ ने अपने मित्र बैंको की भी हत्या कर दी। इसके अभिशाप स्वरूप दोनों दम्पति अपनी निद्रा को खो दिये। लेडी मैकबेथ तो सोते सोते रात में उठ जाती थी और अपनी निद्रावस्था में ही अपनी दासियों को बुला कर अपने रक्तरंजित हाथों को धोने को कहती थी। कभी कभी निद्रा की अवस्था में कितने लोग अपने छिपी हुई बातों को बड़बड़ा कर अपने अनजाने ही कह डालते हैं। उनके पास सोने वाले लोग उसके मन के भेद को इस प्रकार जान लेते हैं। जो व्यक्ति निद्रा की इस प्रकार की बाधाओं से मुक्त होना चाहता है, उसे सच्चा सादा और निष्कपट जीवन बिताना नितान्त आवश्यक है। मनुष्य की अन्तरात्मा सभी की अन्तरात्मा है। इसके प्रतिकूल आचरण करने से मनुष्य अपनी निद्रा को खो देता है। कपटी कंजूस तथा निर्दयी व्यक्ति को बड़े भयानक स्वप्न होते हैं। ये स्वप्न निद्रा में बाधक होते हैं। यदि मनुष्य ऐसे स्वप्नों से मुक्ति चाहता है तो उसे अपने मनोभावों को और अपने आचरण को परिवर्तित करना पड़ता है। मनुष्य के मन में बैठे हुए गुप्त भाव ही उसके स्वप्न बन जाते हैं। कभी कभी स्वयं मनुष्य को ही अपने आन्तरिक भाव का ज्ञान नहीं रहता। स्वप्न के अध्ययन से इन भावों का ज्ञान हो जाता है।

मनुष्य के अप्रिय स्वप्न उसके जीवन में परिवर्तन की आवश्यकता को निर्देशित करते हैं। ये स्वप्न एक ओर व्यक्ति की निद्रा मे बाधा डालते हैं और दूसरी ओर वे निद्रा के साधक भी हैं। स्वप्नो मे मनुष्य की प्रबल उत्तेजनायें प्रकाशित होकर शिथिल हो जाती हैं। जिस व्यक्ति के मन मे प्रबल उत्तेजनायें हैं उसे भयानक स्वप्न आते हैं। ये स्वप्न उसके आरोग्य लाभ के सूचक हैं। यदि ऐसे व्यक्ति को भयानक स्वप्न भी न आवें तो उसे निद्रा ही न हो और फिर उसकी मृत्यु भी शीघ्र हो जाय। किसी प्रकार की निद्रा का प्राप्त होना मनुष्य के स्वास्थ्य लाभ में सहायक होता है, चाहे निद्रा स्वप्न-युक्त हो अथवा बिना स्वप्न के।

नींद में बाधा डालने वाली कुछ विशेष वस्तुओं को जानना आवश्यक है। सभी प्रकार की नशीली वस्तुयें स्वप्न की बाधक होती हैं। नशा वास्तव में निद्रा का स्थान ले लेती है। जिस मनुष्य का मन अधिक चिन्ताग्रस्त होता है जिसके मन में अनेक प्रकार के प्रबल आवेग रहते हैं उसे अपने आप को भुलाने के लिये नशे की आवश्यकता होती है। नशा एक प्रकार की अप्राकृतिक निद्रा है। नशाखोर व्यक्ति का मन अशान्त रहता है, परन्तु नशा करने से उसकी इच्छाशक्ति और भी दुर्बल होती जाती है। ऐसा व्यक्ति जब नशा नहीं करता तो घोर मानसिक यंत्रणा का अनुभव करता है। सदाचारी व्यक्ति को नशा की आवश्यकता ही नहीं रहती। उसे न तो अनिद्रा सताती है और न अकारण चिन्ता।

अनिद्रा और मानसिक रोग

अनिद्रा स्वयं एक मानसिक रोग है और वह रोग अनेक प्रकार के दूसरे मानसिक रोगों का जनक होता है। जब मनुष्य का मानसिक साम्य बना रहता है उसे निद्रा आती रहती है। जब उसका मानसिक साम्य अत्यधिक बिगड़ जाता है तो उसे निद्रा नहीं आती। प्रबल आवेगों के दमन से मनुष्य अपनी नींद को खो देता है जबतक ये आवेग अति प्रबल नहीं होते, वे

स्वप्नों मे प्रकाशित होकर शान्त हो जाते हैं और मनुष्य को नींद आती रहती है, परन्तु जब वे अति प्रबल हो जाते हैं तब उसे नींद नहीं आती।

मनुष्य निद्रा न आने की अवस्था मे बेचैन रहता है। वह समझता है कि निद्रा का न आना उसे बेचैन बनाये है। वास्तव मे उसकी बेचैनी प्रबल आवेगों के दमन के कारण रहती है और अनिद्रा उसका परिणाम होता है। अनिद्रा से पीड़ित व्यक्ति निरर्थक चिन्तन में अपनी मानसिक शक्ति को खोते रहता है। इससे उसकी पाचन क्रिया और रुधिर संचार भी ठीक से नहीं होता। वह एक जगह शान्त नहीं बैठ सकता, लेटने पर वह करवट बदलते रहता है। इसके कारण भी वह सो नहीं पाता।

कभी कभी मनुष्य को निद्रा न आने पर भय लग जाता है कि यदि वह ठीक से नही सोवेगा तो उसे कोई बड़ा रोग हो जावेगा अथवा वह पागल हो जावेगा। इस प्रकार की चिन्ता भी उसके सोने में बाधक बन जाती है। निद्रा के विषय मे चिन्तित रहना उसे खोने का एक प्रधान कारण है।

कितने ही लोगों को अनिद्रा का रोग जीवन की कठिनाइयों से भागने की प्रवृत्ति के कारण उत्पन्न हो जाता है। न्यूरेस्थेनिया का रोगी जब जीवन की कठिनाइयों का सामना नहीं करना चाहता, अतएव वह किसी न किसी प्रकार के रोग का आवाहन करता है। ऐसे व्यक्ति को सबसे पहले अनिद्रा का रोग होता है। फिर यही रोग अनेक प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक रोग में प्रसारित हो जाता है। पलायनवाद की मनोवृत्ति इस रोग की जनक होती है।

अपनी पत्नी से असन्तुष्ट व्यक्तियों को अनिद्रा, अकारण चिन्ता और न्यूरेस्थेनिया का रोग हो जाता है। मनमानी पत्नी न मिलने पर मनुष्य की कामवासना दमित हो जाती है। पति ऐसी स्त्री से काम तृप्ति न करके अनेक बहाने ढूढ़ लेता है। फिर दमित कामवासना अनिद्रा का रोग बन जाती है। घर के किसी अधिकारी से अत्यधिक असन्तोष होनेपर भी

अनिद्रा का रोग उत्पन्न हो जाता है। जीवन मे असफल व्यक्ति भी अनिद्रा से पीड़ित हो जाते हैं। वे इस प्रकार अपनी असफलता को रोग के बहाने भूल जाने का प्रयत्न करते हैं।

कितने ही बालकों को अपने पिता के भय के कारण निद्रा में बाधा होती है। वे भयानक स्वप्न देखते हैं। कभी कभी ऐसे बालक सोते सोते बड़बड़ाते अथवा एक स्थान से सोते सोते उठ कर दूसरी जगह चले जाते हैं। इस समय हमारे पास एक सोलह वर्ष का बालक रहता है। इसे सोते में बड़बड़ाने का रोग है। यह कभी कभी अपने घर से उठकर किसी दूसरे पड़ोसी के घर सो जाया करता था। इसे रात में भयानक स्वप्न होते थे। वह पिशाच को. भयानक जानवर को अथवा दूसरी भयावनी वस्तु को स्वप्न में देखता है। उसके जीवन के अध्ययन से पता चला कि उसके पिता बड़े कठोर व्यक्ति हैं। पिता-माता मे बच्चों की बात लेकर झगड़ा हो जाया करता है और पिता मा को बच्चो को लाड़ दिखाने के लिये पीट भी देते हैं। बच्चे का सहज स्नेह माता से रहता है। अतएव जो पिता बच्चों के भावों की परवाह न करके उनके सामने पीट देते हैं वे अपने ही लड़के को अपना आन्तरिक मन से शत्रु बना लेते है। ऐसे लड़के के मन मे पिता के प्रति भय और घृणा के भाव रहते हैं। ये घृणा के भाव उसे किशोरावस्था में दुःखी बनाते हैं। इसी के कारण बच्चे को भयापक स्वप्न होते हैं और नींद में बाधा होती है। इससे बच्चे मे चित्त की एकाग्रता को कमी, स्मृति ह्रास, कुपच, सिर की पीड़ा और आँख की कमजोरी भी हो जाती है। उपर्युक्त बालक को ये सभी रोग थे। स्नेह-पूर्वक बर्ताव करने से न केवल उसको अच्छी नींद आने लगी, वरन् उसके उक्त सभी रोग समाप्त हो गये।

बारहवाँ प्रकरण

स्वप्न और स्वास्थ्य

स्वप्न का अर्थ

स्वप्न मनुष्य के आन्तरिक भावनाओं को पहचानने की कुंजी है। स्वप्न प्रत्येक मनुष्य को होते हैं। हमें बहुत से स्वप्न या तो याद ही नहीं रहते और यदि याद रहते हैं तो बेसिर-पैर के दिखाई पड़ते हैं। बहुत से स्वप्नो का कोई क्रम-श्रृंखलाबद्ध नहीं रहता और बहुत से स्वप्न हमें ही हास्यास्पद दिखाई पड़ते हैं। उदाहरणार्थ—एक व्यक्ति स्वप्न देखता है कि एक चूहा चूँ चूँ करते हुए इधर उधर कमरे मे दौड़ता हुआ एक टेबुल के उपर चढ़ जाता है टेबुल के उपर एक सुन्दर कपड़ा बिछा हुआ है। टेबुल के बीच पहुँचते ही वह शालिग्राम की मूर्ति बन जाता है। वह एक छोटे बच्चे जैसा दिखाई पड़ता है। स्वप्न द्रष्टा मन ही मन कहता है, यह कैसा सुन्दर और विलक्षण बच्चा है।

यही स्वप्न द्रष्टा अपने दूसरे स्वप्न मे देखता है कि एक व्यक्ति एक युवती को गगाजी मे डूबते हुए बचा कर बाहर ले आता है। वह स्त्री अचेत है और उसके शरीर के अवयव दिखाई देते हैं। जो व्यक्ति उसे बचा कर लाता है। उस व्यक्ति का मुँह उसे नहीं दिखाई देता इसलिये वह उसे पहचान न सका।

उपरोक्त स्वप्न के दृश्य निरर्थक दिखाई पड़ते हैं, परन्तु यह सभी सार्थक हैं। इनका अर्थ जानने के लिए स्वप्न की सामान्य भाषा और विशेष भाषा को जानना आवश्यक है। स्वप्न की सामान्य भाषा पर एक गवेषणात्मक ग्रंथ डा० फ्रायड ने लिखा है, परन्तु केवल इसी के

सहारे स्वप्न का अर्थ नहीं लगाया जा सकता है और भी कई बातों की आवश्यकता होती है। उन बातों पर आगे विचार करेंगे।

स्वप्न का अर्थ मनुष्य के समझ में जल्दी से इसलिए नहीं आता कि मनुष्य का अहंकार उसके मन में उपस्थित है। कई प्रकार के कलुषित और गन्दी भावनाओं को स्वीकार नहीं करना चाहता। यदि मनुष्य का मन इतना सरल हो कि वह अपने बाहरी और आन्तरिक मन में कोई विरोध ही न रक्खे तो उसे न किसी प्रकार की मानसिक पीड़ा हो और न मानसिक रोग और न स्वप्न की ही उसे आवश्यकता हो। अपनी जाग्रतावस्था मे मनुष्य अपने आप को सदा भुलाने की चेष्टा करता है अर्थात् वह जैसा आतरिक मन से है वैसा वह अपने आप को नहीं जानना चाहता। उसमें अनेक प्रकार की पाशविक वासनायें रहती हैं, परन्तु वह अपने आपको महात्मा माने हुए रहता है। अपनी पाशविक इच्छाओं को स्वीकार करना उसके अभिमान को ठेस पहुँचाता है, इसलिए वह इन्हें भुलाता है। इसी प्रकार वह अपनी दूसरी कमियों को भी भूलाने की चेष्टा करता है। इस प्रकार अपनी कमियों को भुलाने की चेष्टा न केवल जाग्रतावस्था में रहती है, वरन् स्वप्नावस्था में भी कार्य करती है। परन्तु इस चेष्टा मे कुछ शिथिलता अवश्य आ जाती है। इसलिए ही स्वप्न मे अनेक प्रकार के स्वाग रच कर दमित इच्छायें प्रकाशित होती हैं। इस प्रकार के प्रकाशन से इस इच्छा की शक्ति का व्यय होता है, अर्थात् वह अपनी आंशिक तृप्ति पाती है, और मनुष्य का निद्रा प्राप्त करना सरल हो जाता है। इस तरह स्वप्न नींद का विनाशक न होकर नींद का रक्षक होता है।

उपर कहा गया है कि मनुष्य के बाहरी और भीतरी मन मे विरोध होने के कारण ही उसे स्वप्न होते हैं और इसीके कारण ही उनका अर्थ लगाना कठिन होता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि जिस व्यक्ति के बाहरी और भीतरी मन में जितना हो अधिक विरोध होगा उसे उतनी

ही अधिक स्वप्न होने की आवश्यकता है और उसके स्वप्न उतने ही विलक्षण होंगे अर्थात् उनका अर्थ लगाना अत्यन्त कठिन होगा। किसी व्यक्ति के स्वप्न का अर्थ उस व्यक्ति की स्वीकृति से स्वप्न सत्य नहीं है। किसी व्यक्ति के स्वप्न का अर्थ ठीक है यह तबतक नहीं मानना चाहिए जबतक कि स्वयं स्वप्न द्रष्टा उसे स्वीकार न करे और स्वप्न द्रष्टा को अपने स्वप्न का किसी विशेष प्रकार का अर्थ स्वीकार कराना तबतक सम्भव नहीं होता जबतक कि उसके भीतरी और बाहरी मन का विरोध घट नहीं जाता। एक प्रकार से देखा जाय तो स्वप्न के अर्थ लगाने की प्रक्रिया से इस प्रकार के विरोध में कमी होती है।

जब मनुष्य के आन्तरिक और बाह्य मन मे अत्यन्त विरोध होता है तब उसके स्वप्न उसे याद ही नहीं रहते। यदि वे याद रहते हैं तो प्रयत्न करने पर भी उनके स्वप्न के अर्थ समझ मे नहीं आते हैं। ऐसे व्यक्ति के स्वप्न कभी २ बड़े भयावने होते हैं। इन स्वप्नों को वह तुरन्त ही भूल जाता है। इस प्रकार के स्वप्नों को भूलने से मनुष्य को मानसिक रोगों के होने की सम्भावना होती है। यदि चिकित्सक मानसिक रोगियों से स्वप्न पूछे तो वह यही कहता है कि स्वप्न उसे याद ही नहीं रहते। इसका अर्थ यह है कि रोगी का आन्तरिक मन चिकित्सक के सामने प्रकट नहीं होना चाहता। वह चिकित्सक को सदेह की दृष्टि से देखता है। जब रोगी और चिकित्सक मे मैत्री भाव बढ़ जाता है और जब रोगी का आन्तरिक मन चिकित्सक के सामने आने में नहीं हिचकता तब रोगी को उसके स्वप्न याद रहने लगते हैं। रोग की चिकित्सा के लिए यह शुभ सूचक है।

किसी स्वप्न का अर्थ लगाने के लिए स्वप्न कला को समझना नितांत आवश्यक है। स्वप्न कला मे आकुञ्चन, प्रसारण, स्थानातरण, विस्मरण, मूर्तिकरण और प्रतीकीकरण की कियाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। आकुञ्चन में एक बहुत बड़े अर्थ को स्वप्न थोड़े में कहता है। इसके

ठीक प्रतिकूल प्रसारीकरण मे कार्य होता है, अर्थात् थोड़े अर्थ को बड़े रूपक में चित्रित किया जाता है। स्थानांतरण मे एक व्यक्ति के प्रति द्वेष के भाव किसी दूसरे व्यक्ति के ऊपर आरोपित होकर प्रकाशित होते हैं। पिता के प्रति घृणा के भाव किसी प्रतिष्ठावान् व्यक्ति के प्रति आरोपित होकर प्रकट होते हैं। विस्मरण की क्रिया में मनुष्य अपने स्वप्न के उसी मान को भूल जाता है, जिसमें उसका सच्चा अर्थ छिपा रहता है। इस प्रकार मनुष्य स्वप्न का कुछ का कुछ अर्थ लगा लेता है। स्वप्न के ऐसे भूले हुए भाग को कभी सम्मोहित अवस्था मे चेतना की सतह पर ले आया जाता है यह शैथिलीकरण की अवस्था में भी चेतना की सतह पर चला आता है। मूर्तिकरण की क्रियामें कोई भी सूक्ष्म भाव स्थूल रूप से प्रकट होता है। जिस प्रकार कि किसी एक छोटी कहानी को चित्रों के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। घृणा की मूर्ति कुष्ठ रोगी के स्वप्न और प्रेम की मूर्ति कृष्ण अथवा विष्णु की मूर्ति के रूप मे प्रकट होती है। प्रतीकीकरण की क्रिया से मनुष्य के अचेतन मन के भाव स्वप्न में किसी विशेष प्रकार के प्रतीकों के द्वारा प्रकट होते हैं। स्वप्न के प्रतीकों का अर्थ लगाने के लिए कला और सामान्य जनता के भाव प्रकट करने के प्रतीकों को जानना आवश्यक होता है। डा० फ्रायड के अनुसार स्वप्न के अनेक चलने-फिरने वाले, रेंगने वाले, उत्तेजक तथा आकर्षक पदार्थ कामवासना अर्थात् जननेंद्रिय के प्रतीक होते हैं। पानी मे तैरना, हवा मे उड़ना, दूसरे से त्रस्त होना, आग से डरना सभी कामवासना मे पड़ने के प्रतीक हैं। सर्प का स्वप्न काम-वासना का द्योतक है।

उपरोक्त स्वप्न कला को जान कर भी स्वप्न का अर्थ लगाना सरल नहीं होता है। कोई भी व्यक्ति अपने स्वप्न का अर्थ सफलता से नहीं लगा सकता है। इसी के कारण अपना ही मनोविश्लेषण अपने आप करना कठिन होता है। साधारणतः स्वप्न देखने वाला व्यक्ति जो अर्थ

अपने स्वप्न का लगाता है उससे स्वप्न का वास्तविक अर्थ भिन्न होता है। यदि ऐसा न हो तो स्वप्न-दर्शन ही व्यर्थ हो जाये। स्वप्न के द्वारा मनुष्य अपने आपको स्पष्टतः नहीं पहचान पाता; परन्तु उसे इतना ज्ञान होता है कि वह एक विस्मय जनक वस्तु है। दूसरे के सहारे वह अपने स्वप्न के अर्थ को जानकर पहचानता है। इस स्वप्न के अर्थ जानने की क्रिया मे मनुष्य के भीतरी और बाहरी मनमे सम्बन्ध भी स्थापित होता है। आत्म-सम्बन्ध स्थापित करने मे चिकित्सक के माध्यम की नितान्त आवश्यकता होती है। पहले-पहल मनुष्य के अचेतन भाव किसी बाह्य व्यक्ति पर आरोपित होते हैं, पीछे उनका समन्वय बाहरी चेतना से होता है।

स्वप्नों का अर्थ लगाना एक जटिल कार्य दिखाई पड़ता है। इसकी जटिलता बढ़ाने में एक कारण यह भी है कि जबतक स्वयम् रोगी किसी अर्थ को स्वीकार न कर ले तबतक यह न मानना चाहिए कि स्वप्न का ठीक अर्थ लगा। एक दो स्वप्न का अर्थ भिन्न-भिन्न रोगियो की जीवनी मे भिन्न-भिन्न होता है। स्वप्न का अर्थ देश, काल, परिस्थिति और पात्र के अनुसार बदलता है। ऐसी अवस्था मे कौन बता सकता है कि किस स्वप्न का क्या अर्थ होगा। इतना होने पर भी स्वप्न ही एक मात्र आधार किसी व्यक्ति के अचेतन मनतक पहुँचने का है। फिर इस आधार के सहारे चिकित्सक रोगी के अचेतन मन मे कैसे प्रवेश करता है?

रोगी के अचेतन मन मे स्वप्नद्वारा प्रवेश करना इसलिए सरल होता है कि रोगी के अचेतन मन के द्वार पर खड़ा हुआ पहरूआ ही रोगी के आन्तरिक मनमे चिकित्सक का प्रवेश करना सरल कर देता है; जिस प्रकार एक बड़े गढ़ मे प्रवेश करना पहरूओं को वश मे कर लेने से सरल हो जाता है इसी प्रकार मानसिक रोगी के अचेतन मन मे प्रवेश करना रोगी के अचेतन भावना के दमित- रखनेवाली सत्ता से मेल कर लेने से अचेतन मन मे प्रवेश करना सरल होता है। यह मेल स्नेह के द्वारा होता है। स्नेह पहरूओं को विमोहित कर देता है फिर रोगी के अचेतन

वासना जो सदा प्रकट होने के लिए उतावली रहती है अपने आप ही स्वांगों को फेंक कर अपने सच्चे रूप में बाहर चली आती है। देखा गया है कि जब रोगी के एक स्वप्न का अर्थ चिकित्सक को स्पष्ट नहीं होता तो उसे दूसरे दिन उसी अर्थ का दूसरा स्वप्न होता है जिससे कि मानसिक रोगी की आन्तरिक इच्छा सहानुभूत्यात्मक चिकित्सक को स्पष्टतया ज्ञात हो जाये।

रोगी और चिकित्सक मे जब स्नेह का भाव बढ़ जाता है तो रोगी चिकित्सक को अपना स्वप्न कहने के लिए बड़ा उत्सुक होता है। इस प्रकार के स्वप्न रोग की चिकित्सा मे विशेष अर्थ रखते हैं और जबतक उनका ठीक से अर्थ नहीं लगा लिया जाता है, तबतक वे बार बार अनेक प्रकार से आते ही रहते हैं। कभी-कभी वह इतने साफ रहते हैं कि उनका दो अर्थ करना सम्भव ही नहीं होता। यहाँ पर एक न्यूरस्थेनिया के रोगी के कुछ स्वप्न उल्लेखनीय है; जिनका कि अर्थ सरलता से लगाया जा सकता है।

सेप्टेम्बर १४ 'मेरे घर मे बहुत से मोटे और लम्बे साँप आ रहे है। उनको कई मरतबा उठाकर मकान के बाहर फेंक दिया जा रहा है; लेकिन वे फिर मकान मे घुसे आ रहे हैं। उन्होंने किसी को नहीं का काटा।

(२) सेप्टेम्बर १८ 'मैं एम० ए० पढ़ने के लिए लखनऊ यूनिवर्सिटी में भर्ती हो गया हूँ। मैस्टे होटल मे मुझे सीट (जगह) मिल गयी है। लेकिन जो कमरा मुझे दिया गया था उससे सन्तोष नहीं था। इसलिए किसी दूसरे अच्छे हवादार, प्रकाशदार कमरे की कोशिश कर रहा हूँ।

(३) सितम्बर १६ 'एक बंगले के ऊपर चार मेम साहिबा कुछ खेल कर रही हैं। एक मेम साहिबा के हाथ मे एक फूल रखा था। मैं जल्दी से उस मेमसाहिबा के पास गया और उसके हाथ से जबर्दस्ती उस फूल को छीन लिया। फूल छीनने में काम वासना जाग्रत हो गयी।

दूसरा स्वप्न—कहीं रेल का सफर कर रहा हूँ। गलती से रेल का

टिकट गलत खरीद लिया यानी दूसरे कोई स्टेशन का। टिकट चेकर आता है और कहता है कि यह गलत टिकट आप क्यों दिखा रहे हैं। आप को जबर्दस्त दण्ड पड़ेगा। वह टिकट के महसूल का तिगुना हिसाब करके कहता है "लाइए इतने पैसे।" मैं अपनी गलती के लिए क्षमा माँगता हूँ और इस तरह के हाव-भाव बना लेता हूँ कि टिकट चेकर को मुझ पर दया आती है। वह सिर्फ टिकट के महसूल की एक रसीद बनाता है।

(४) अक्तूबर ५—एक स्थान पर एक मकान के नजदीक मेरी एक पुरानी छात्रा मिल गयी। वह मुझे अपने घर ले जाने लगी। वह छोटे रास्ते से ले जाने लगी मगर मैंने कहा कि लम्बे मार्ग से जाऊंगा लम्बे मार्ग से जाते समय कामेच्छा जाग्रत हुई और मुझ से उसके शरीर का स्पर्श हो गया।

पहले स्वप्न का अर्थ डा० फ्रायड के कामवासना के प्रतीकों के सिद्धान्त का समर्थन करता है। घर मनुष्य का व्यक्तित्व है और सपर कामवासना का। स्वप्नद्रष्टा कामवासना को बार-बार मन से बाहर निकालता है किन्तु फिर आ जाती है। परन्तु एक भी सर्प ने किसी को नहीं काटा। इसका अर्थ कि उसका आन्तरिक मन उसे विश्वास दिला रहा है कि उसे वासना से नहीं डरना चाहिए, वह उसे क्षति न करेगी।

उक्त स्वप्न का अर्थ तथा व्यक्ति के ता० १६ के एक स्वप्न से स्पष्ट होता है उसमे कामवासना प्रत्यक्ष रूप से चित्रित है।

रोगी का दूसरा स्वप्न इस बात को बताता है कि रोगी अपनी वर्तमान शादी से सन्तुष्ट नहीं है। वह कोई दूसरी स्त्री चाहता है। यह अर्थ इस बात से स्पष्ट होता है वह अपने विवाहित जीवन से असन्तुष्ट है और विवाह होने के पश्चात् ही उसे न्यूरस्थेनिया और अनिद्रा का रोग हुआ।

तीसरा स्वप्न—रोगीका युवती के स्तन पकड़ने की इच्छा का द्योतक

है। सम्भवतः यह युवती उसकी साली है। इसके बाद वाला स्वप्न यह बतलाता है कि रोगी ने अपने विवाह मे भूल की है और जिस युवती से उसकी शादी होनी चाहिए थी किसी दूसरे से कर ली और इसके लिए वह जुर्माना चुका रहा है; परन्तु उसका मन उसे आश्वासन दे रहा है कि वह जुर्माने से बच जायेगा, यानी उसका जीवन इस स्त्री के साथ भी सुख से कट जायेगा।

रोगी का अन्तिम स्वप्न यह दर्शाता है कि रोगी घरेलू जीवन से सन्तुष्ट न रहकर अतिरिक्त भोग-वासना द्वारा समय काटना चाहता है, यदि रोगी अपनी इच्छा पर नियन्त्रण-कर ले तो रोग समाप्त हो जाये।

उपरोक्त स्वप्नों से भी स्पष्ट एक और दूसरे रोगी के स्वप्न हैं जिसके जीवन मे अनेक प्रकार का असन्तोष था और जिसे इस असन्तोष के कारण कब्जीयत, आँख सिर की पीड़ा आदि रोग बने रहते थे। यह रोगी स्वयम् भौतिक चिकित्सा का एक मान्य व्यक्ति है। मानसिक चिकित्सा होते समय उसे जो स्वप्न आया उसे अपने आप ही लिख भेजा। यह स्वप्न चिकित्सक और रोगी दोनों को ही रोगी के आरोग्य की ओर प्रगति का विश्वास दिलाता है और ठीक कारण भी बताता है। स्वप्न इस प्रकार है।

'हम दो मित्र (एक मैं, एक और) बम्बई मे समुद्र की तरफ जा रहे हैं। एक बहुत विशाल मकान सामने जाकर देखते हैं। उसका पिछला भाग गिराया जा रहा है। मैंने मित्र से कहा 'देखो इस मकान के पीछे समुद्र है, वह भरा जा रहा है। समुद्र भरना कठिन है फिर भी देखो कुछ दूर तक भर दिया गया है।

मित्र ने और मैंने दोनो ने देखा कि उस मकान के पीछे समुद्र था। वह कई तरह का सामान डालकर भर दिया गया है। फिर मैंने मित्र से कहा 'अब इसको समतल बनाकर इस का नव निर्माण होगा। यहाँ नई आबादी होगी'। ऐसे बात करते-करते हमलोग पूरब की तरफ बढ़ गये।

कुछ दूर टहलकर लौटे तो रास्ता भूल गये और पश्चिम की तरफ बे प्रयोजन चलने लगे। बहुत दूर जाने पर मैंने कहा कि क्या बात है? रास्ता भूल गये हैं? फिर पश्चिम से वापस पूरब को लौट आये।

मैं देखता हूँ, मेरे साथ साथ एक बन्दर है। जिसके गले में एक रस्सी है और मैं उस रस्सी को पकड़े हुए हूँ। हम लोग एक मकान में प्रवेश करते हैं वहाँ दो स्त्रियाँ हैं। एक बंदर और बंदरी है। उस बंदरी को देखते ही वह बंदर विकराल हो जाता है। मैंने भय के मारे बंदर को छोड़ दिया कि कहीं पकड़े रहूँ तो मेरे पर आक्रमण न कर दे। उसने भयानक क्रोध से बंदरी को पकड़ लिया। दूसरा बंदर चुप-चाप देखता रहा और मैं भी देखता रहा।'

उपरोक्त स्वप्न दो बातों को दर्शाता है, एक तो रोगी के जीवन में वह काम वासना के दमन को प्रत्यक्ष करता है। बंदर उसके आन्तरिक मन का प्रतीक है। बंदर के गले मे रस्सी बाँधी गयी है; परन्तु यह इस प्रकार रोकने का प्रयास व्यर्थ है। आखिर वह अपनी मनमानी कर ही डालता है। स्वप्न का दूसरा भाग यह दर्शाता है कि रोगी के व्यक्तित्व का नवनिर्माण हो रहा है। मकान उसके व्यक्तित्व का प्रतीक है। पुरानी खाइयाँ भरी जा रही हैं और कभी-कभी गुमराह अवश्य हो जाता है—पूरब के बदले पश्चिम को चल देता है। परन्तु फिर भी वह अपनी भूल को सुधार लेता है और फिर सही रास्ता पर चला आता है।

इस स्वप्न के ठीक लगाये जाने की प्रमाणिकता इस बात से सिद्ध होती है कि इस स्वप्न के बाद वास्तव में रोगी के व्यक्तित्व का नवनिर्माण हुआ और उसके जीवन में बड़े-बड़े परिवर्तन हुए जिससे उसकी अनेक प्रकार की उन्नति हुई। वह साधु-स्वभाव का व्यक्ति है अतएव उसे अपने आन्तरिक स्वभाव का ज्ञान न था। उसने जो पीछे आत्मस्वीकृति की उससे स्वप्न के अर्थ लगाने की प्रमाणिकता सिद्ध हुई।

स्वप्न के अर्थ लगाने की विधि को ध्यान मे रखते हुए अब हम

इस लेख के प्रारम्भ में दिए गये दो स्वप्नों का अर्थ लगावें तो यह स्पष्ट होगा कि वे दोनों स्वप्न स्वप्न-द्रष्टा के काम वासना को स्पष्ट करते हैं। चूहा, कपड़ा और शालिग्राम की मूर्ति काम-वासना के प्रतीक हैं। यह स्वप्न दर्शाता है कि जिस वासना को तुम नगण्य रूप से देखते हो वह बड़े ही प्रभावशाली और सौंदर्यमयी हैं। दूसरा स्वप्न युवती को नगी देखने की इच्छा को प्रकट करता है। जिस व्यक्ति को स्वप्नद्रष्टा के मुँह नही दिखाई देता वह व्यक्ति स्वयम् ही है। रोगी के जीवन के २० वर्ष पूर्व की घटना से पता चला है कि इसी स्वप्न की घटना से मिलती जुलती एक वास्तविक घटना घटित हुई थी और उस समय की इच्छा युवती को नग्नावस्था में देखते रहने की दृढ़ हो गयी थी। इस स्वप्न के समय रोगी अपने को शक्तिहीन अनुभव करने लगा था। कुछ दिन पूर्व उसके एक आश्रित युवती का विवाह हुआ था। स्वप्न से स्पष्ट हुआ कि उसके रोग का कारण प्रबल काम-इच्छा का दमन है जिसे वह पहचान न सका था। इसकी आत्म-स्वीकृति होने पर उसका रोग नष्ट हो गया। रोगी वास्तविक घटना की स्मृति को भूल चुका था। स्वप्न के आधार पर स्वतन्त्र-सम्बन्ध की प्रक्रिया के द्वारा उसकी विस्मृति घटना को चेतना के स्तर पर लाया गया।

स्वप्न न केवल मनुष्य की दमित वासना को प्रतीक रूप से अथवा स्पष्टतः प्रकाशित करता है; वरन वह उसको कभी-कभी सम्भाव्य घटना के प्रति आगाह भी करता है और वह उसे कठिन परिस्थितियों मे उचित मार्ग का निर्देश करता है। इस सत्य को प्रमाणित करने के लिए डा० युंग ने अपनी एनालाटिकल साइकालाजी नामक पुस्तक मे दो सुन्दर उदाहरण दिए हैं। एक उदाहरण मे बताया गया है कि एक व्यक्ति रेल के प्लैटफार्म पर खड़ा हुआ है। वह एक आती हुई गाड़ी को देख रहा है। गाड़ी प्लैटफार्म पर बड़े टेढ़े-मेढ़े मार्ग से तेजी से आ रही है। स्वप्नद्रष्टा डर रहा है कि गाड़ी अगर इतनी तेजी से आयी तो

कहीं प्लैटफार्म पर पहुँचते पहुँचते पटरी से न उतर जायें और वह जमीन पर गिर कर चकना चूर न हो जाये। इस स्वप्न का अर्थ लगाते हुए युंग महाशय ने बताया कि रोगी अपने जीवन को बड़े तेजी से बहुत से हौसले लिए आगे बढ़ते जा रहा था। उसका आन्तरिक मन उसे आदेश दे रहा था कि यदि वह अपने जीवन मे सुधार नहीं करता है और अपने हौसले को दिन प्रतिदिन बढ़ाते जाता है तो उसकी जीवनगाड़ी पटरी से उतरकर विनष्ट हो जाने क खतरे मे पड़ी है। स्वप्न से शिक्षा पाकर रोगी ने अपने बहुत से हौसले को कम कर दिया और इस प्रकार जीवनगाड़ीमे संयत लाया। उसे उस दुर्घटना को नहीं सहना पड़ा स्वप्न की शिक्षा न मानने पर घटित होती।

एक दूसरे व्यक्ति को इसी प्रकार का आगाह करने वाला स्वप्न हुआ। उसने देखा कि वह पहाड़ की चोटी पर चढ़ते चला जा रहा है। वह चोटी तक तो पहुँच गया है, परन्तु उसके आगे भी आसमान मे पैर रखते हुए आगे चला जा रहा है और इस स्थिति मे बड़ा आनन्द आ रहा है। इस स्वप्न का अर्थ उसने डा० युंग से रास्ते मे चलते-चलते पूछा। इस व्यक्ति को पहाड़ पर चढ़ने का बड़ा ही शौक था। वह इसके लिए कभी-कभी अकेला चला जाता था। डा० युंग ने उससे कहा कि भाई अब तुम पहाड़ पर चढ़ने के शौक को कुछ कम कर दो और कम से कम अपने साथ एक साथी अवश्य ले जाओ। परन्तु इस व्यक्ति ने डा० युंग के इस आदेश को सुनकर मुस्करा दिया। वह अपने पुराने व्यसन मे ही लगा रहा। एक रोज वह अपने मित्र को पहाड़ी के नीचे खड़ा कर अपने आप बहुत ऊँचा चढ़ गया। वहाँ पर भूल मे उसने अपना पैर खाली स्थान मे रख दिया और बहुत ऊपर से वह अपने मित्र के सिर पर ही गिर गया। इस प्रकार दोनों की ही मृत्यु हो गयी।

तेरहवाँ प्रकरण

अन्तर्मन की शक्ति और आरोग्य

इग्लैंड के प्रयोगात्मक मनोविज्ञान के विशेषज्ञ डा० विलियम ब्राऊन का कथन है कि हमारे मन मे जितनी शक्ति है उसके बहुत ही थोड़े भाग का हमें ज्ञान रहता है। यदि हम अपने संपूर्ण मन की शक्ति का ज्ञान कर लें तो बड़े बड़े चमत्कार हमे सरल हो जायँ। इस शक्ति का ज्ञान न रहने के कारण ही मनुष्य अनेक प्रकार के कष्ट सहता है और असहाय बन कर जीवन व्यतीत करता है। हम जितना ही बाहरी पदार्थों पर अवलम्बित होते जाते हैं अन्तरात्मा की शक्ति को खोते जाते हैं। फिर हमे अनेक प्रकार के अकारण चिन्ता, भय और शारीरिक तथा मानसिक रोग सताने लगते है। चिकित्सा के क्षेत्र मे मनुष्य उसी प्रकार जड़वादी बनते जा रहा है जिस प्रकार वह अन्य क्षेत्र मे जड़वादी बनता जा रहा है। आधुनिक काल मे न केवल शारीरिक रोगों का भौतिक उपचार होता है वरन् मानसिक रोगों का भी भौतिक उपचार होता है। रोगी को डाक्टरी औषधि, बिजली के झटके और मस्तिष्क के आपरेशन द्वारा ठीक करने की चेष्टा की जाती है। इस प्रकार के ऊपरी उपचार मनुष्य को सामयिक लाभ पहुँचा दे सकते हैं, परन्तु कोई भी रोग तब तक जड़ से नही जाता जब तक मनुष्य के बाहरी और भीतरी मन मे सामञ्जस्य स्थापित नहीं होता। यदि हम रोगी के भीतरी मन को किसी प्रकार प्रभावित कर लें तो हम बड़े बड़े शारीरिक और मानसिक रोगों को थोड़े ही समय मे समाप्त कर सकें। रोगों की इस प्रकार की समाप्ति चमत्कारक अवश्य होगी, परन्तु यह चमत्कार विज्ञान विरोधी न होगा।

संसार के महान् पुरुष अपने केवल स्पर्शमात्र से अनेक प्रकार के

शारीरिक और मानसिक रोगों को अच्छा कर देते थे। इस प्रकार की चिकित्सा को भगवान् की कृपा अथवा दैविक चिकित्सा कहा जाता है। वास्तव मे यह चिकित्सा रोगी के मन में उपस्थित अपार शक्ति को उसके हितार्थ सक्रिय बनाने की चेष्टा है। जब मनुष्य की अन्तरात्मा उसको कष्ट देना चाहती है तो वह अपने रोग से मुक्त होने का जितना ही प्रयत्न करता है रोग बढ़ता ही जाता है। अन्तरात्मा की अनुकूलता प्राप्त करने पर ही रोग समाप्त होता है। ऐसी ही अवस्था मे सभी प्रकार के भौतिक उपचार भी सफल सिद्ध होते हैं।

मानसिक रोग की सम्बन्ध मे देखा जाता है कि रोगी की अन्तरात्मा किसी कारण वश उसे कोसा करती है। जब वह अन्तरात्मा की भर्त्सना को भुलाने मे समर्थ होता है तभी उसे रोग होता है। रोग रोगी की आत्म-वेदना को बाहर लाता है। यदि रोगी के अन्तर्मन को इस तरह प्रभावित कर दिया जाय कि वह अपने को कोसना बन्द कर दे तो रोगी अवश्य रोग से मुक्त हो जाय। जब कोई महात्मा रोगी को स्पर्श कर के ही उसे रोग से मुक्त करता है तब वास्तव मे वह उसके हृदय को स्पर्श करता है। इससे उसके हृदय का परिवर्तन हो जाता है। रोगी मनुष्य का आन्तरिक विरोध सम्पूर्ण जगत् से रहता है, इसलिये उसका विरोध अपने आप से भी रहता है। महात्मा अपनी बात-चीत, व्यवहार और सेवा द्वारा रोगी के हृदय का परिवर्तन कर देता है। इसी के कारण रोग की समाप्ति होती है। जब मनुष्य की आन्तरिक भावना बदल जाती है तब रोग चला जाता है।

इस प्रकार की चिकित्सा भौतिक विज्ञान के द्वारा सरलता से नहीं समझाई जा सकती। इसके लिये नये प्रकार के विज्ञान की सृष्टि की आवश्यकता है। मनुष्य की भावना की शक्ति का माप उसी प्रकार नहीं किया जा सकता जिस प्रकार भौतिक पदार्थों की शक्ति का माप किया जाता है। मनुष्य का कौन सा विचार उसके स्वास्थ्य पर कितना प्रभाव डालेगा

इसका माप करना अत्यन्त कठिन है। जो विचार मनुष्य के अन्तर्मन तक पहुँच जाता है वह उसके जीवन मे चमत्कारिक कार्य कर डालता है; यह विचार दूसरो का हो सकता है अथवा अपने आप का। वास्तव में दूसरे व्यक्ति का विचार भी हमे तभी प्रभावित करता है जब उसे हम अपना विचार बना लेते हैं।

मानसिक चिकित्सा के क्षेत्र मे सबसे महत्व की खोज डा० सिगमेड फ्रायड ने की है। वे स्वयं एक सामान्य चिकित्सक थे। डा० फ्रायड ने मानसिक चिकित्सा का कार्य नेन्से नगर के डा० इमील कूए के यहाँ सीखा डा० इमीलकूए स्वयं वैज्ञानिक चिकित्सक नहीं थे। वे मन की उन शक्तियो मे विश्वास करते थे जो मनुष्य की तार्किक बुद्धि की पहुँच के परे हैं। उनके चिकित्सा गृह मे न केवल हिस्टीरिया, अकारण भय, बाध्य विचार तथा दूसरे प्रकार के मानसिक रोगी उनके प्रतिदिन छू लेने मात्र से स्वास्थ्यलाभ कर लेते थे, वरन् दमा, सिर की पीड़ा और क्षय रोग से पीड़ित व्यक्ति भी उनके सम्मोहन से वशीभूत होकर इन रोगो से मुक्त हो जाते थे। एक बार एक महिला को अपने एक दुख देने वाले दात को एक दांत के डाक्टर से उखड़वाना था। डा० इमीलकूए इस महिला के मित्र के नाते उस डाक्टर के यहाँ उस के साथ गये। दाँत उखड़ जाने पर उन्होने महिला के दाँत से निकलते हुए रुधिर प्रवाह को अपनी निर्देश-विधि से रोक दिया। जिस प्रकार भौतिक औषधि के लगाने से किसी घाव का रुधिर रुक जाता है उसी प्रकार इमीलकूए घाव से बहते हुए रुधिर को केवल विचार के प्रभाव से रोकते थे।

डा० इमीलकूए का यह भी कथन है कि यदि हम सोते हुए रोगीको उसकी सुप्तावस्था मे निश्चयात्मक बुद्धि से यह कहे कि वह धीरे-धीरे अपने रोग से मुक्त हो रहा है और हमारे वाक्य इस प्रकार के हो मानो वह हमारी सब बातो को ध्यानपूर्वक सुन रहा है तो कुछ ही दिनों मे उसका जटिल रोग उसे छोड़ देता है। वह रोगी धीरे धीरे वास्तव मे स्वास्थ्य लाभ

करने लगता है। इसी प्रकार यदि किसी बालक को कोई जटिल आदत हो उदाहरणार्थ सिगरेट पीने की, चोरी करने की, कामक्रीड़ा की, बिस्तर पर पेशाब करने की, चुगुली करने की अथवा दूसरों से लड़ने झगड़ने की और मारपीट करने की, यदि ये आदते न छूटती हों तो उन्हें छुड़ाने का एक बड़ा ही अच्छा उपाय यह है कि जब बालक सोया हुआ हो तो बालक से स्नेह करनेवाला व्यक्ति उसके बदन पर हाथ फेरते हुए कहे कि वह बड़ा गुणवान है और उसने अपनी जटिल आदत पर बहुत काबू कर लिया है और शीघ्र ही वह उनपर विजय प्राप्त कर लेगा। इस प्रकार की बात को बार बार धीरे-धीरे सोये बच्चे के पास बैठकर दोहराने से बच्चे की कोई भी जटिल आदत छूट जाती है।

ये दोनों बातें विज्ञान की कार्य-कारण की परम्परा द्वारा साधारणतया नहीं समझायी जा सकती। बहुत से तीव्र तार्किक बुद्धि के व्यक्तियों को इसकी सत्यता में विश्वास ही न होगा, परन्तु इमीलकूए ने इस विधि से हजारों रोगियों को अच्छा किया और आज भारत मे भी कई व्यक्ति इसी विधि के आधार पर अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोगों को नष्ट करते हैं। यह प्रयोगसिद्ध वस्तु है कि मनुष्य के सोते समय के विचार उसके स्वास्थ्य के बनाने और बिगाड़ने मे बड़ा महत्त्व का स्थान रखते हैं और उसकी सुप्तावस्था मे उसके पास बैठ कर कही गई बातें भी उसके न केवल स्वास्थ्य वरन जीवन को भी बनाते और बिगाड़ते है। क्योंकि मनुष्य का सम्पूर्ण मन कभी नहीं सोता। जब मनुष्य का चेतन मन सोता है, तब भी उसके मन का एक भाग अर्थात् अचेतन मन जागते रहता है और यह मन व्यक्ति के संबन्ध मे कही गई महत्व की बातो को बडी तीव्रता से ग्रहण कर लेता है। यह मन तार्किक नहीं है। अतएव जो कुछ बाते मनुष्य की सुप्त अवस्था मे कही जाती है उसी के अनुसार मनुष्य का व्यक्तित्व और स्वास्थ्य निर्मित होने लगता है। इस विधि से न केवल हम दूसरे व्यक्तियों का स्वास्थ्य तथा चरित्र सुधार सकते है, वरन् हम

अपने आप का भी स्वास्थ्य सुधार सकते हैं और अपने चरित्र का नव निर्माण कर सकते हैं।

अन्तर्मन को सोते समय प्रभावित करने का एक बड़ा ही शिक्षाप्रद प्रयोग, जिसे लेखक से परामर्श लेनेवाले जनार्दन प्रसाद मिश्र नामक एक पटना विश्वविद्यालय के छात्र ने आज से पाँच वर्ष पूर्व किया था उल्लेखनीय है। यह प्रयोग उन्हीं के शब्दों मे यहाँ दिया जाता है।

"सन् १९४५ मे मैं भागलपुर के टी० एन० जे० कालेज में चतुर्थ वर्ष का विद्यार्थी था। वहाँ मैं अपने फूफा जी के यहाँ रहकर विद्याध्ययन कर रहा था। श्रावणमास के द्वितीय पक्ष मे किसी दिन फूफा जी के पास पत्र आया कि उनका दामाद बहुत जोर से बीमार है और वे देखने को शीघ्र आवें। फूफा जी ने स्वय न जाकर मुझे ही उन्हे देखने को भेजा। मैंने जाकर देखा कि उनकी हालत काफी खराब है। मेरे फूफेरे बहनोई की उम्र उस समय अठारह वर्ष से अधिक नहीं होगी। जिस दिन मैं पहुँचा, उनकी बीमारी के ११ या बारह दिन हो चुके थे। बुखार १०४ डिग्री तक आता था, कभी कभी उससे अधिक भी हो जाता था, पर १०५ डिग्री के भीतर रहता था। बुखार के इतना अधिक होने से तो मुझे कुछ विशेष डर नहीं मालूम पड़ता था, पर खतरा यह था कि उनका बुखार बड़ी तेजी से उतरता था और करीब करीब आध घन्टे मे ही १०५ से गिरकर ९५ तक पहुँच जाता था। बुखार उतरते समय बड़े जोरों का पसीना छूटता था, सारा बिछावन आदि पसीना से भींग जाता था। ऐसी अवस्था मे हमेशा यही भय रहता था कि कहीं मृत्यु न हो जाय। दूसरे पेट भी काफी फूलता था, जिसके लिये हमेशा सेंक देना पड़ता था। पूर्णिमा की रात को तो हालत एक दम निराश जनक हो गयी थी। रोग को डाक्टर विशुद्ध टायफ़यड नहीं कहते थे, फिर भी उसी के समान खतरनाक समझते थे। चिकित्सक होमियोपैथिक थे।

शहर मे उनकी बहुत बड़ी ख्याति है। खासकर इस तरह की बीमारी के लिये तो वे सिद्धहस्त माने जाते हैं।

हाँ, तो बहनोई साहब की बुरी अवस्था देखकर मुझे उन्हे छोड़कर आने का साहस नहीं हुआ और उनके माता-पिता ने भी रोक लिया। फिर मुझे उनसे स्नेह भी बहुत अधिक था, जिसने मुझे उनकी सेवा के लिये मजबूर कर दिया। कई रोज तक मैं सेवा करता रहा। डाक्टर भी पूरी जिम्मेदारी के साथ चिकित्सा करते रहे,पर मर्ज बढ़ता गया ज्यो-ज्यों दवा की। मेरे यहाँ रहने के चार-पाँच दिनो के बाद उन्हों ने कहना शुरु किया—"अब मैं नहीं बचूँगा"। इस बात को वह हमेशा दुहराने लगे। लोगों के लाख समझाने-बुझाने पर भी "नहीं बचूँगा, नहीं बचूँगा" की रट वह लगाते गये। मुझे बड़ी चिन्ता हुई, अब सब लोग निराश होने लगे। उनकी माँ की आँखें निरन्तर भरी रहने लगीं। स्थिति विषम थी। मेरे मन ने कहा अब उनके जीवन की कोई उमीद नहीं, जब तक कि उनकी भावना में परिवर्तन न हो जाय, अर्थात् 'नहीं बचूँगा, नहीं बचूँगा' कहना वे न छोड़ दें, पर यह हो कैसे? लोगों के समझाने -बुझाने का तो कुछ असर नहीं पड़ रहा था। मैं सोचने लगा। अन्तमे इस नतीजे पर पहुँचा कि उनके अचेतन मन को प्रभावित करने से कुछ फायदा हो सकता है।

ठहरा तो अर्थशास्त्र का विद्यार्थी, पर मनोविज्ञान के अध्ययन की ओर कुछ आन्तरिक झुकाव होने के कारण तत्सम्बंधी कुछ पुस्तकें मैंने पढ़ी थी और आपके 'नवीन मनोविज्ञान' को तो कुछ ही दिन पहले समाप्त किया था, जिसने मुझे काफी प्रभावित किया था, और जिसकी छाप मुझपर बिलकुल ताजी थी। 'नवीन मनोविज्ञान' के सूत्रो मे निदान खोजते खोजते मेरा ध्यान अपने बहनोई साहब के प्रलाप की ओर गया। ऊपर मैं यह कहना भूल गया था कि जब बुखार १०२ से ऊपर चढ़ने लगता था, तो उनकी सुधि जाती रहती थी और वह अनाप-सनाप बातें बकने लगते थे। खयाल आया कि अचेत मन की कुंजी तो इन्हीं अनाप, सनाप बातों मे रहती

है। इन्हीं शब्दों का सहारा लेकर मैंने उनके अचेतन मन को प्रभावित करने की ठानी। मैंने गौर से उनके प्रलाप के शब्दों का अध्ययन करना शुरू किया। मेरा अध्ययन तीन दिन तक लगातार जारी रहा, इधर हालत बुरी-से-बुरी होती जा रही थी, पर मुझे भरोसा-सा हो रहा था। अध्ययन के परिणाम स्वरूप मैंने पाया कि हर बार बेहोशी मे वे तीन बातों को अवश्य कहते थे—और वे तीन बातें थीं—(१) एक हजार, दो हजार, अढ़ाई-हजार, तीन हजार (२) अरमान और (३) एक बार।

मैंने इन तीन बातों का सम्बन्ध उनके जीवन से जोड़ा। उनकी बीमारी के तीन-चार मास पूर्व उनकी शादी हुई थी, जिसमे दोनो तरफ से करीब तीन हजार रुपये खर्च हुए थे। यह खर्च कम इसलिये है कि हमारे समाज मे तिलक और दहेज की प्रथा उग्ररुप मे नहीं है। दूसरे, 'अरमान' से मैंने यह सोचा कि वह सोच रहे हैं कि उनके जीवन के अरमान अधूरे ही रह गये, क्योंकि जीवन और यौवन के सुख भोगने के पूर्व ही वह संसार से विदा होने को हैं। तीसरे, 'एकबार' से मैंने यह अर्थ लगाया कि मृत्यु को करीब समझ कर वह अपनी पत्नी को एक बार देखना चाहते हैं। एक बार के साथ-साथ वह कभी-कभी 'अन्तिम बार' भी कहा करते थे। इस इच्छा का होना स्वाभाविक ही है। एक बात और है। हमारे समाज मे लड़की शादी के समय जब पहले-पहल ससुराल जाती है, तो वहाँ दो तीन दिनो से अधिक नहीं ठहरती, जिसमे कभी कभी तो यह होता है कि लड़का-लड़की एक दूसरे को देखने का अवसर ही नहीं मिलता और यदि अवसर मिला भी तो इतने कम समय के लिये कि एक दूसरे का अच्छी तरह परिचय नहीं हो पाता। यद्यपि उन्हों ने अपनी पत्नी को देखा तो था, पर बहुत कम समय के लिये और इसीलिये मैंने समझा कि पत्नी को पुनः देखने की इच्छा 'एक बार' और 'अन्तिम बार' के पीछे प्रबल रूप से काम कर रही है।

तीसरे रोज रात को मैंने प्रयोग मे ९ बजे उनके माता पिता और दूसरे

सभी लोगों को विश्राम करने के लिये कमरे से बाहर जाने को कहा। कमरे मे रहे सिर्फ दो—मैं और रोगी। ११ बजे के करीब वह बदहोशी में बकने लगे। उनकी दोनों आँखे बंद थीं। ज्योंही उन्होंने कहा—एक बार, मैं ने अपना मुँह उनके कानके पास ले गया और फुसफुसाकर कहा—तुम देखोगे।

"देखेंगे ?" उन्होंने प्रश्न किया, बोलकर नहीं फुसफुसाकर ही। "जरुर देखोगे। वह तुम्हारे लिये बहुत चिन्तित है। वह तुम्हें बहुत चाहती है, दिल से प्यार करती है।"—इतनी बातें मैंने एक साथ कह दीं।

"ठीक ?" उन्होंने प्रश्न किया।

मैंने कहा—"हाँ, ठीक" और साथ ही बहुत तेजी से मैंने एक स्वर मे उनके कान मे फुसफुसाया "तुम बहुत जल्दी अच्छे हो जाओगे, तुम बहुत जल्दी अच्छे हो जाओगे, तुम बहुत जल्दी अच्छे हो जाओगे।" इतना कहते ही उनका शरीर कुछ हिला और मैं तुरन्त नींद का बहाना कर उनका सिर छोड़ कर पड़ गया। कनखियों से मैंने देखा कि उनकी आँखें खुलीं, उन्हों ने इधर-उधर देखा, मुझे देखा पर उनकी समझ मे कुछ नहीं आया। कुछ देर बाद उन्हों ने बगल मे पड़े पखे से कसकर मुझे मारा। बड़ी चोट लगी। मेरी समझ मे नहीं आया कि जिस आदमी को हाथ उठाने की ताकत नहीं थी, उसमे इतनी सामर्थ्य कहाँ से आई ? खैर, मैं हड़बड़ाकर उठ गया और सो जाने के अपराध के लिये उनसे माँफी माँगी। सुबह जब आँसूभरी आँखो से उनकी माँ ने कमरे मे प्रवेश किया तो उन्होंने कहा—"रोती काहे हो, मैं अच्छा हो जाऊँगा"।

कुछ देर बाद पिता आये, उनसे कहा—"चिन्ता क्या, मैं अच्छा हो जाऊँगा।" और फिर तो "अच्छा हो जाऊँगा" "अच्छा हो जाऊँगा" यही सब से कहने लगे। तीन दिनों तक उनकी अवस्था मे कोई परिवर्तन नहीं हुआ। फिर तो वह इतनी तेजी से अच्छे हुए कि सभी दग रह गये।

डा० फ्रायड का कथन था कि इमीलकूए की विधि से किसी प्रकार

के रोग का वास्तविक उपचार नहीं होता, इससे रोग का दमन मात्र होता है। रोग कुछ समय के लिए दृष्टि से ओझल हो जाता है और वह फिर से किसी नए रूप में प्रकाशित होता है। उन्होंने इमीलकूए की आत्म-निर्देश के द्वारा मानसिक चिकित्सा के स्थान पर अपनी मनोविश्लेषण विधि का आविष्कार किया। इस विधि को उन्होंने वैज्ञानिक विधि माना है अर्थात् इस विधि में कार्य-कारण का संतुलन है। जब तक किसी रोग को जड़ से नहीं उखाड़ा जाता तब तक वह रोगी को नहीं छोड़ेगा। मनो-विश्लेषण रोग को जड़ से उखाड़ने का प्रयास है। परन्तु देखा गया है कि स्वयं डा० फ्रायड को मानसिक रोगों की चिकित्सा में डा० इमीलकूए से अधिक सफलता नहीं मिली थी।

वर्तमान काल में डा० विलियम ब्राउन ने इमीलकूए की मानसिक रोगों की आत्म निर्देश चिकित्सा की विधि पर अपने प्रयोगों द्वारा नया प्रकाश डाला है। डा० विलियम ब्राउन स्वयं एक बड़े प्रयोगात्मक मनोविज्ञान के विशेषज्ञ हैं। आप इगलैंड के मानसिक चिकित्सकों में सर्वश्रेष्ठ हैं। आप ने आत्मनिर्देश की चिकित्सा विधि से न केवल मानसिक रोगियों को स्वास्थ्य प्रदान किया है वरन् बहुत से सामान्य स्वस्थ समझे जाने वाले ऐसे व्यक्तियों को लाभ पहुँचाया है जो चित्त की एकाग्रता, स्मृति की तीव्रता और इच्छा-शक्ति का बल खो चुके थे, जो अपने आप को बड़ा पतित और निकम्मा मानने लगे थे। जिस मानसिक कमजोरी पर कोई व्यक्ति अपने दृढ़ प्रयत्न के द्वारा विजय प्राप्त करने में असमर्थ रहता है उसी कमजोरी पर वह विजय डा० विलियम ब्राउन की मानसिक शैथिली करण की अवस्था में आत्मनिर्देश देने की विधि द्वारा प्राप्त कर सकता है।

डा० विलियम ब्राउन ने स्वयं अपने ऊपर एक बड़े महत्व का प्रयोग किया है। यह प्रयोग हम सभी के लिये शिक्षाप्रद है। इसकी चर्चा उन्होंने अपनी 'साइकालाजी एण्ड साइकोथीरेपी' नामक पुस्तक में की

है। डा० ब्राउन को कई वर्ष पुरानी सिगरेट पीने की जटिल आदत थी। उस आदत पर विजय प्राप्त करने की उन्होने बहुत कोशिश की, परन्तु वे जितना ही इस आदत को छोड़ने का प्रयत्न करते थे वह और भी जटिल होती जाती थी। वे प्रयत्न करने पर थोड़े समय के लिए सिगरेट पीना छोड़ने मे सफल हो जाते थे; परन्तु सिगरेट न पीने की अवस्था मे उनकी मानसिक बेचैनी इतनी अधिक बढ़ जाती थी कि उन्हे बरबश सिगरेट पीना पड़ता था और जब वे सिगरेट पीना फिर से प्रारम्भ करते थे तो उन्हे पहले से कहीं अधिक सिगरेट पीना पड़ता था। उनकी यह कई वर्ष पुरानी आदत एक ही बार के आत्मनिर्देश द्वारा छोड़ने के प्रयत्न से सब समय के लिये चली गई और उन्हें आज दिन तक न तो सिगरेट पीने की आवश्यकता पड़ी और न उन्हे उसे छोड़ने के कारण मानसिक बेचैनी ही हुई।

इस प्रयोग मे कार्य और कारण की विषमता पायी जाती है। यह चिकित्सा अन्तर्मन की शक्ति के द्वारा हुई। मनुष्य के वैयक्तिक प्रयत्न के परे एक अलौकिक सत्ता की सहायता मे भी विश्वास होनाआवश्यक है। यदि चिकित्सक को इस सत्ता की उपस्थिति मे विश्वास हो और वह प्रति दिन के अभ्यास द्वारा अपने अहकारमयी चित्तवृत्तियों को इस सत्ता में लय करने का प्रयत्न करें तो वह देखेगा कि उसमे मानसिक और साधारण रोगियों को आरोग्य प्रदान करने की शक्ति अद्भुतरूप से बढ़ गई है। स्वय मानसिक रोगी किसी भी स्थायी सत्ता के अस्तित्व मे विश्वास नहीं करता, वह निराशावादी होता है और न तो वह किसी मनुष्य की वास्तविक भलाई मे और न किसी नियम के सचाई मे विश्वास करता है। आत्मा और परमात्मा के विचार तो उससे कोसो दूर रहते हैं। किसी स्थिर सत्ता मे विश्वास न होने के कारण ऐसे व्यक्ति की कल्पना उसके ही नियन्त्रण मे नहीं रहती, उसकी कल्पना सहज रूप से आशावादी और रचनात्मक न होकर निराशावादी और ध्वंसात्मक होती है। उसके विचार आत्म-सृजन की वृद्धि न कर उसे आत्म विनाश की ओर ले

जाते हैं। फिर मनुष्य की जैसी कल्पना और विचार होते हैं वैसे उसके स्वास्थ्य, चरित्र और भाग्य का निर्माण होता है। जब तक कोई चिकित्सक रोगी के निराशावादी विचारो को नहीं बदल देता तब तक वह उसे कोई मौलिक लाभ नहीं पहुँचा सकता। रोगी को स्थायी लाभ तभी होता है जब कि रोगी एक ऐसी सत्ता के अस्तित्व मे विश्वास करने लगता है जो सर्वशक्तिमान, न्यायप्रिय और सभी का कल्याण करनेवाली है।

वास्तव मे स्थायी मानसिक चिकित्सा अन्तर्मन के द्वारा ही होती है। शारीरिक रोगों की चिकित्सा मे भी यह आवश्यक है कि रोगी के मन में यह विश्वास उत्पन्न हो कि वह आरोग्य लाभ कर लेगा। जब तक रोगी का अपने चिकित्सक मे विश्वास नहीं होता और जब तक उसकी अन्तरात्मा उसे नहीं सुझाती कि वह आरोग्य लाभ कर लेगा, वह न तो मानसिक और न तो शारीरिक रोगों से मुक्त हो सकता है। किसी प्रकार के विश्वास का किसी व्यक्ति के मन मे आ जाना स्वय एक अलौकिक घटना है। यह विश्वास किसी ऐसे व्यक्ति के हार्दिक सम्पर्क से आता है जिसे स्वय एक स्थिर सत्ता के अस्तित्व मे और उसके भले होने मे विश्वास हो। विश्वास बुद्धि की उपज नहीं है, यह बुद्धि के परे की वस्तु है। बुद्धि जिस सिद्धान्त को एक समय स्थापित करती है, उसी को दूसरे समय तोड़ फोड़ देती है। अतएव जो व्यक्ति मानव जीवन की सफलता के लिये विश्वास की आवश्यकता नहीं मानते वे सशयवादी हो जाते हैं। यदि ऐसे व्यक्तियों को कोई मानसिक रोग हो जाय तो उन्हे उससे मुक्त करना अत्यन्त कठिन होता है।

विश्वास स्वयं एक शक्ति है यह मनुष्य की इच्छाशक्ति का बल बढ़ाता है, उसकी कल्पना को रचनात्मक बनाता है, उसके आत्मनिर्देश को शक्तिशाली करता है और उसकी सभी प्रकार की मानसिक शक्तियों का विकास करता है। डा० विलियम ब्राउन का कथन है कि जिस व्यक्ति को इस सृष्टि मे सर्वव्यापी न्याय-प्रिय तथा भली सत्ता की उपस्थिति मे

विश्वास है उसके दर्शन और स्पर्शमात्र से क्षण भर में जटिल से जटिल रोगी अपने रोग से मुक्त हो सकता है। इस प्रकार की रोग से मुक्ति चमत्कार अवश्य कहा जा सकता है, परन्तु यह चमत्कार विज्ञान विरोधी नहीं है। काशी मनोविज्ञानशाला में डा० विलियम ब्राउन द्वारा बताई सन्निर्देश चिकित्सा विधि पर अनेक प्रयोग किए गये हैं और हमने देखा है कि जिन रोगो से रोगी कई वर्षों से पीड़ित था वह एक ही दो दिन के सम्पर्क से उनसे मुक्त हो गया अथवा उसके रोग की समाप्ति प्रारम्भ हो गई और वह कुछ ही दिनों मे उससे मुक्त हो गया।

आज से चार महीने पूर्व काशीविश्वविद्यालय का एक २० वर्ष का छात्र हमारे यहाँ अपने हकलाहट के रोग को लेकर आया। यह हकलाहट उसको १३ साल की अवस्था से थी। अपरिचित होने के कारण वह आशा नहीं करता था कि उसे मनोविज्ञानशाला मे वही स्नेह मिलेगा जो दूसरे रोगियो को मिलता है, परन्तु उसने इस पर भी हिम्मत की कि वह हमारे पास आकर अपनी सब कठिनाई कहे। जिस समय वह 'शाला' में आया था वह अपना नाम उच्चारण करने मे भी बड़ी कठिनाई का अनुभव करता था, दूसरे शब्द तो वह कह भी नहीं सकता था। इसका एक कारण यह है कि जब वह मनोविज्ञानशाला मे आया उस समय मनोविज्ञानशाला की साप्ताहिक सभा हो रही थी। हकलाहट बहुत सी सख्या को देखकर बढ़ जाती है। इस रोगी को सभा के बाद उसी दिन शैथिलीकरण का प्रयोग करके सुला दिया गया। सोयी हुई अवस्था में उसके ऊपर कई बार हाथ इस प्रकार फेरा गया, मानो माता प्यार कर रही है। यह रोगी चार घटे तक लगातार सोता रहा। इस समय रात अधिक हो गई थी अतएव उसे जगाना आवश्यक था। उसे जब जगाया गया तो वह इस तरह से घबड़ाया हुआ दिखलाई पड़ा मानो उसके प्राण निकल रहे हो। शान्तिभाव से उसके ऊपर हाथ फेरा गाया। जाग जाने पर पूछने से मालूम पड़ा कि वह अनुभव कर रहा था कि मानो वह ऊपर

से पटक दिया गया हो। बस इसी दिन से उसके हकलाहट का जाना आरम्भ हुआ और एक ही महीने के भीतर वह सामान्य लोगों जैसा बोलने लगा। हाल ही मे इस छात्र ने अपने रोग समाप्ति की कथा मनोविज्ञानशाला की एक सभा मे सुनाई।

अपने रोगी की चिकित्सा सम्बन्धी वृत्तात रोगी के शब्दों मे नीचे दिया जाता है "मैं अपने जीवन से निराश हो गया था। क्यों ? प्रश्न का उत्तर जितना स्पष्ट है उतना ही दुखपूर्ण। आर्थिक विषमताये मेरे सामने चट्टान बन कर खड़ी थी। मैं सोचता था अर्थ की जिस शिला पर न जाने कितने साधकों की साधन-तरणियाँ चूर चूर हो जाती है, उसे भला मैं कैसे पार कर सकूँगा ? पर सबसे बड़ा और प्रधान करण मेरा बहुत बड़ा रोग 'हकलाना' था। मैं इस सत्य को नहीं जानता था कि मेरा हकलाना मानसिक ग्रन्थियों के बनने से है। शारीरिक रोग समझ लेने के कारण न जाने कितनी दवा की शीशियाँ समय २ पर मैंने खाली कर डालीं।

हकलाने से मैं इतना अधिक पीड़ित था कि उन दिनों का स्मरण कर के अब भी अपने उपर बहुत आत्मग्लानि उत्पन्न होता है। उन दिनों मैं कक्षा ७ मे पढ़ता था। परीक्षा फल ज्ञात करने के लिये मै बनारस से इलाहाबाद गया। पर आफिस मे ज्यों पहुँचा मेरी जबान पर ताला लग गया। ओफ, कितनी बड़ी परेशानी थी। मैं बोलना चाहता था, किन्तु बोल नहीं पाता था; मैं कहना चाहता था पर कह नहीं पाता था। केवल मेरे मुँह से "मैं मैं और हम हम" का ताँता लगने लगा था। सुनने वाले व्यग से मेरे उपर मुस्करा कर मेरा मजाक उड़ाते थे। काम तो अपना करना ही था, इसलिये किसी प्रकार लिख कर अपना मकसद पूरा किया।

इसमे शक नही कि मैं जीवन भर रोता रहता या आत्म हत्या कर लेता। पर भाग्य वस एक दिन मेरे एक साथी ने मुझे श्री लालजी राम

शुक्ल का पता बताया और साथ ही उनके द्वारा संचालित काशी मनो-विज्ञान-शाला का पूरा परिचय दिया।

मैं उसी दिन मनोविज्ञानशाला को ढूंढते २ एक देवता की रम्य मन्दिर तक जा पहुँचा। वहाँ मैं ने एक भद्र का पत्र दिया। मानसिक वेद-नाओं से मैं इतना भर गया था कि मुझे अपने पन का कुछ ज्ञान नहीं रहा। पत्र मे लिखा था 'आप मुझे जीवन प्रदान कीजिये ईश्वर आप को इसका बदला देगें, कृपया इस बुझते हुये दीप को बचा लीजिये'।

मुझे उपर बुलाया गया। दरवाजे पर एक व्यक्ति ने मेरे कंधे पर हाथ रख कर बड़े प्रेम पूर्वक मुझे तख्ते पर बैठा दिया। एक लम्बे अवधि के पश्चात् जो मैंने प्रेम पाया, आनन्द से विह्वल हो गया। प्रेम के अनुभूतियो से आँखें बरबस छलछला आयी आँखों के आँसू भी खुशी से बाहर टपकने लगी।

मैंने उनके प्रश्नों का बड़ी कठिनाईसे उत्तर दिया। उन्होंने मुझे दूसरे दिन मीटिंग मे बुलाया। मीटिंग के बाद उन्होंने मेरी चिकित्सा आरम्भ की। मैं समझता था कोई खतरनाक इंजेक्शन देगे या हकलाने का आप्रेशन करेंगें। लेकिन इन सब क्रियाओं के विरुद्ध उन्हो ने मुझ से जीवन की स्मृतियाँ पूछीं। पश्चात् एकान्त मे विस्तरे पर सोने को कहे और न जाने कितनी देर तक सर से पैर तक सहराते रहे। आज से पूर्व कभी इस प्रकार का प्रेम मैंने नहीं प्राप्त किया था। एक अपूर्व शान्ति और सुख का अनुभव कर मैं सो गया।

सोकर जब मैं उठा मुझे चाय, पापड़ इत्यादि खिलाये। इसी प्रकार गुरु जी के दो तीन बार के प्रयोग से मैं निरोग हो गया। उन्होने काशी मनोविज्ञानशाला का निःशुल्क सदस्य भी बना लिया। मुझे शुक्लजी के काम के लिये उन्हे एक पैसा भी नहीं देना पड़ा। पढ़ने के लिए मनोविज्ञानशाला की पत्रिकायें भी दिये। एक गरीब विद्यार्थी की फीस माफ कराने का उन्हो ने जो सतत उद्योग किया उसे भी भुलाया नहीं जा सकता।

एक दूसरे रोगी को कई वर्षों से एक्जिमा का रोग था। उसे यह झक भी सवार थी कि उसे सभी लोग चोर समझते हैं। जिस समय उसने अपने रोग के सबंध मे पत्र व्यवहार किया वह लखनऊ विश्वविद्यालय का छात्र था। उसे रोग जब बनारस विश्वविद्यालय मे पढ़ रहा था तभी हो गया था। वह इस झक के कारण ही बनारस छोड़कर लखनऊ पढ़ने आया था। उसके झक के रोग के निवारण के लिये हमे मनोविश्लेषण विधि को काम मे लाना पड़ा अर्थात् उसकी जीवनी और स्वप्न के अध्ययन किये गये तथा सहज संबध की प्रणाली से दबी स्मृतिया चेतना की सतह पर लाई गई और रोगी के अनैतिक आचरण से सबधित आवेग का रेचन किया गया। चोरी की झक व्यभिचारजन्य आत्मग्लानि के कारण उत्पन्न हुई थी, परन्तु चमत्कार की बात उसके एक्जिमा के चले जाने की है। इस रोगी ने मैत्री भावना की अलौकिक शक्ति सबधी एक लेख कल्याण मे पढ़ा था और मैत्री भावना की जो विधि उसमे बतलाई गयी थी उसी विधि के अनुसार वह मैत्री भावना का अभ्यास करने लगा। इसके परिणाम स्वरूप उसके हाथ का एक्जिमा जो उसे कई वर्ष से पीड़ा देता रहा, जाता रहा।

यह तीन वर्ष पहले की घटना है। इसी प्रकार के एक अभ्यास से आज से पाँच महीने पूर्व आरा जिले के एक विद्यार्थी के पैर का एक्जिमा जाता रहा। शारीरिक शैथिलीकरण और मैत्री भावना के अभ्यास के द्वारा काशी मनोविज्ञानशाला मे सिर की पीड़ा, आँख की पीड़ा, हृदय की धड़कन, दमा, पेट की पीड़ा, और जटिल बमन के रोगो का उपचार हुआ है। इनमे अधिक रोग रूपान्तरित उन्माद (कनवरसन हिस्टीरिया) पाये गये, परन्तु दूसरे प्रकार के रोग भी इसी विधि से उपचारित हुए हैं। हम इस विधि को सन्निर्देश विधि कह सकते हैं। इस विधि मे शिथिलीकरण का अभ्यास अर्थात् प्रयत्न के बदले रोगी से अर्थात् प्रयत्न हीनता का ही अभ्यास कराया जाता है। उसे अपने रोग को शत्रु के बदले मित्र

समझने का अभ्यास कराया जाता है। जब मनुष्य अपने रोग को ही अपना मित्र समझने लगता है तो रोग उसे परेशान न कर उसका कल्याण ही करता है।

सन्निर्देश विधि द्वारा सफल उपचार का एक उपयोगी प्रयोग यहां उल्लेखनीय है जिससे प्रमाणित होता है कि मनुष्य अपनी भयानक कल्पनाओं से सन्निर्देश और आन्तरिक मन की शक्ति के द्वारा सरलता से मुक्त हो सकता। रोगी ने अपने रोग से मुक्ति का वृत्तात निम्नलिखित शब्दों मे दिया है—

बाल्यावस्था के बाद जब मैंने होस सम्हाला मुझे ऐसा अनुभव होने लगा कि मेरे पीछे कोई एक ऐसी गुप्त शक्ति है जो मुझे अंधेरे मे, अकेले मे तथा शयन कक्ष मे त्रास दिया करती है। इस भय का कोई प्रत्यक्ष तथा स्पष्ट कारण मैं नही जानता था। किन्तु फिर भी भय करत ही रहता था। शयन कक्ष मे प्राय: अकेले सोने पर दुखद स्वप्न प्रति दिन देखता। स्वप्नों की भयानकता इतनी बढ़ गयी कि मैं बहुत रात बीते भी जागते रहने का प्रयत्न किया करता था। चारपाई पर पड़ जाने पर मुझे भय आजाता था कि मैं कही-दुखद स्वप्नों को न देखने लगूं।

मेरे स्वप्न जितने भयंकर होते उतने ही अजीब किस्म की कल्पनिक घटनाओ से ओत प्रोत होते थे। यहाँ मै एक दो स्वप्नो का वर्णन करना उपयुक्त समझता हूं—

मैं देखता हूं कि धरती मे दरारें पड़ती जा रही है। मैं उन दरारो मे चारपाई के साथ अनायास ही गिरता जा रहा हूं। दरारों मे नीला काला प्रवाह ज्वार भाटा सा बढ़ता घटता है। ऊपर आकाश में बिजलियाँ कौंध रही हैं। चारो तरफ आग के गोले गिर रहे हैं। मैं धरती के नीचे अफनाते हुए आकाश से गिरते हुए अग्नि के गोले के मध्य जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा हूं। ऐसे समय मे अपने प्रिय जनों को पुकारना चाहता हूं किन्तु मुह से एक शब्द भी नहीं निकल पाता

हैं। प्रयत्न करता हूँ, शक्ति लगाता हूँ कि बोलूं पर किन्तु मेरे सारे प्रयत्न असफल होते हैं।

उस दिन डिसेक्शन हाल से लौटा था। मेरे कमरे के और साथी घर गये थे। मैं ही अकेला उस कमरे मे था। मुझे उस समय मे अकेला सोना पड़ा। इसके पहले मैंने इस बात की कल्पना भी नहीं की थी कि किसी दिन मुझे वहाँ इसमें अकेला सोना पड़ेगा। अपने दुर्बलताओं पर एवं अज्ञात भय पर हृदय द्वारा नहीं विवेक द्वारा विजय प्राप्त कर सोने का प्रयत्न किया, किन्तु नींद न आई। लेटे लेटे अखबार पढ़ने लगा। समय बीतने पर नींद आ गई। नींद आये मुश्किल से एक घण्टे भी न हुये होगें, मैंने देखा कि मेरी चारपाई के चारों ओर डिसेक्शन हाल के सभी मुर्दे अपने अग भंग अवस्था मे ही सजीव हो खड़े हैं। वे सब कह रहे थे तुम्हें भी अपना साथी बनाऊँगा। जब उन्होंने चारपाई को चारो ओर से पकड़ लिया तो मैं चिल्लाया, पर आवाज न निकली—मैं चेतना हीन हो गया। पुनः एक मिनट के पश्चात् चेतना लौटी, मैंने अपने को अस्त-व्यस्त जाड़े की रात में पसीने से भींगा पाया।

दुखद स्वप्नों तथा अप्रकाशित घटनाओं का स्थान विशेष में अनिच्छा पूर्वक स्मृति हो जाने से मैं इतना भयभीत रहा करता था जिससे जीवन का कार्य-क्रम और उद्देश्य धुंधली होते जाता था। सभी कार्य मे असफलता और भय का आवेश मिलता था।

इसके अतिरिक्त मुझे स्मृतिह्रास का भी दोष था। बचपन से अब तक प्रयत्न किया कि पहाड़े याद हो जावें पर याद नहीं हो पाते थे। मेडिकल साईंस के टेकनिक शब्द भी नही याद हो पाते थे। मुझे हड्डियों के नाम विशेषतर नहीं याद होते थे। इसलिये मैं इस विषय को पढ़ने से भय खाता था। जीवन से निराश हो गया, मन में प्रतिदिन विचार करता कि इस विषय को छोड़ कर दूसरे विषयी का अध्ययन करूँ।

मैं इससे छुटकारा पाने के लिये काशी मनोविज्ञान शाला मे प्रायः

आया करता था पर लज्जा संकोच एवं अकारण भय के कारण अपने मन की स्थिति वहाँ के एक मात्र मनोवैज्ञानिक चिकित्सक श्रीलाल जी राम शुक्ल से नहीं कह पाया। धीरे धीरे आने जाने से उनका स्नेह मेरे उपर जब इस सीमा पर पहुँच गया कि उनसे मैं अपनी गुप्त बाते भी बतलाने से नहीं झिझकने का अनुमान कर सका तब मैंने उनसे अपने मन की स्थिति को खोला। मन की स्थिति तथा जीवन की गुप्त घटनायें उन्हें मनोवैज्ञानिक चिकित्सक जान कर नहीं बताया बल्कि उनको अत्यन्त प्रेमी तथा सहृदय जान कर बताया।

उनके अत्यन्त प्रेम, उचित निर्देश तथा सद्भावनाओ से मैं उक्त किस्म के अकारण भय से मुक्त हो गया। अब न मैं कभी दुखद स्वप्न ही देखता हूँ न किसी स्थान विशेष पर अप्रकाशित और अनैच्छिक घटनाओं का स्मरण ही हो आता है अपना विषय भी याद होता है। जीवन का क्रम व्यवस्थित तथा निशाक रुप से चल रहा है।

मुझे जिस भावना का अभ्यास कराया गया था वह निम्न लिखित है

१—मैं अपने सभी अंगों को शिथिल कर के लेट जाता और यह भावना करता कि मैं सम्पूर्ण शान्त हूँ और मेरे सभी प्रकार की चिन्तायें समाप्त हो गईं। इस प्रकार स्वास प्रस्वास का अभ्यास करते सोजाया करता था।

२—सोते समय कल्पना करता था कि मैं श्रद्धेय गुरुवर जी (श्रीलाल जी राम शुक्ला) के साथ ही साथ सो रहा हूँ। मनोविज्ञानशाला में एक दिन उनके साथ मैं उसी प्रकार सोया भी।

उपर्युक्त चिकित्सा की सफलता का रहस्य इसी बात मे है कि मनुष्य की इच्छाशक्ति के परे एक महान सत्ता उसी के व्यक्तित्व मे उपस्थित है। इच्छाशक्ति मनुष्य की चेतना का अंग है, जिस प्रकार उसकी तर्क बुद्धि भी उसकी चेतना का अंग है। विज्ञान बुद्धि की उपज है और प्रयत्न इच्छाशक्ति की। मनुष्य के जीवन के साधारण कार्यों के लिए बुद्धि और इच्छाशक्ति तथा विज्ञान और प्रयत्न पर्याप्त हैं, परन्तु उसके असाधारण

कार्य के लिए असाधारण शक्ति की आवश्यकता होती है। अन्तर्मन की शक्ति उसी प्रकार अपार है जिस प्रकार एटम की गुप्त शक्ति और जिस प्रकार आधुनिक युग के पहले के वैज्ञानिक अणु की शक्ति से अपरचित थे इसी प्रकार आज हम भी अन्तरात्मा की शक्ति से अपरचित है। हमे इस शक्ति का थोड़ा बहुत परिचय विशेष संकटकाल मे हो जाता है। यदि हमें इस शक्ति का सम्पूर्ण परिचय साधारण अवस्था में भी हो जाय तो हम अपना और संसार का कितना कल्याण कर सकते हैं यह कौन कह सकता है। क्या ही अच्छा होता कि ससार के मनस्वी पुरुष जड़ अणु की शक्ति की खोज में अपना समय न खर्च करके चैतन्य अणु की शक्ति खोजने मे अपना समय खर्च करते। फिर हम आशा करते हैं कि वर्तमानकाल का विश्वव्यापी कलह और अनेक प्रकार के मानसिक रोग दैविक चिकित्सा द्वारा क्षण भर में समाप्त हो जाते।

चौदहवाँ प्रकरण

अन्तर्मन की शक्तियों का उद्बोधन

हमारे मन मे जितनी शक्ति है उसका बहुत थोड़ा ही भाग हमे ज्ञात है। अपने मन की सम्पूर्ण शक्ति का ज्ञान न होने के कारण ही हम अनेक प्रकार से दुखी रहते हैं। मनुष्य जैसा अपने विषय मे सदा विचार करते रहता है उसका स्वभाव उसी प्रकार का बन जाता है। चेतन मन के विचार धीरे धीरे, मनुष्य के अचेतन मन मे चले जाते हैं। यदि किसी प्रकार मनुष्य के भले विचार उसके अचेतन मन मे चले जाँय तो वह न केवल अपनी सब प्रकार की कमजोरियों से मुक्त हो जाय वरन वह असाधारण चमत्कार भी कर दिखावे। मन की खिंचाव की अवस्था मे मनुष्य के विचार ज्यों के त्यों चेतन से अचेतन अवस्था मे नहीं जाते ऐसी अवस्था में मनुष्य को सदा निराशावादी विचार आते रहते हैं। यदि आशावादी विचार उसमे आवे भी तो उसमे उसे विश्वास नहीं होता।

मानसिक खिंचाव के अन्त करने को लिए मनुष्य को अपनी इच्छाओं को समाप्त करना आवश्यक होता है। चेतन मन की इच्छाएँ जितना मानसिक खिंचाव उत्पन्न करती है उससे कहीं अधिक अचेतन मन की इच्छाए खिंचाव उत्पन्न करती हैं। कितने नैतिक आचरण मे उच्चकोटि के व्यक्ति अकारण ही अनेक प्रकार की आत्मग्लानि का अनुभव करते हैं। वे छोटी छोटी सी बातो के लिए अपने आप को कोसते रहते हैं। कितने ही बाहर से भले रहनेवाले व्यक्तियों को अकारण अशान्ति का अनुभव होता है। ऐसे व्यक्ति अपनी चेतना अवस्था मे भले विचार अपने मन मे नहीं लाता। यदि कोई भला विचार मन मे आ भी जाय तो उसमे उनका विश्वास नहीं होता है। जब तक अन्तर्मन की इच्छा मन से बाहर

नहीं निकल आती तब तक मानसिक खिंचाव बना ही रहता है। इस इच्छा को किसी न किसी प्रकार समाप्त करना मानसिक खिंचाव को हटाने के लिए नितांत आवश्यक है।

दमित इच्छा को हटाने का एक उपाय मनोविश्लेषण है। इसके लिए मनुष्य के स्वप्न और सहज सम्बंध से चेतना की स्तर पर आयी हुई बातों की जानकारी करनी पड़ती है। डा० फ्रायड के अनुसार किसी भी व्यक्ति का मनोविश्लेषण वह स्वतः नहीं कर सकता, उसे दूसरे व्यक्ति की सहायता की आवश्यकता होती है। दमित इच्छा के निकलने के लिए और उसकी समाप्ति के लिए आवश्यक है कि ऐसा व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति से प्रेम करने लगे। प्रेम की क्रिया से ही दमित इच्छा की शक्ति अथवा मानसिक ग्रन्थि समाप्त होती है।

दमित इच्छा के बाहर निकालने का एक दूसरा उपाय मानसिक शैथिलीकरण का अभ्यास है। यदि कोई मनुष्य अपने शरीर को शिथिल करके उसका मन जो कुछ सोचता है उसे सोचने की छूट दे दे तो धीरे-धीरे उसकी सब कलुषित भावना चेतना के स्तर पर आ जाएँगी। इनके गुप्त रहने से ही वे मानसिक खिंचाव उत्पन्न करती हैं। अनेक प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक रोगों की सृष्टि करती है। जब उन्हें मन की शैथिल्यावस्था में आने की छूट दे दी जाती है तब उनकी शक्ति प्रकाशित होकर समाप्त हो जाती है। मनुष्य सदा अपनी इच्छाशक्ति को ही काम में लाया करता है। वह हर समय अपनी चेतना पर एक ऐसा पहरा डाले रहता है जिससे कि चेतना की सतह के नीचे के विचार चेतना पर नहीं आ पाते। इस तरह वह अपने आपको एक बहुत ही भला और भौतिक व्यक्ति मानने लगता है। फिर ऐसे व्यक्ति को अनेक प्रकार के अकारण भय और चिन्ता हृदय की धड़कन आदि रोग सताते हैं। कभी कभी ऐसा व्यक्ति अकेले रहने से ही डरने लगता है। उसे अकेले रहने पर अनायास ही भयंकर विचार आ जाते हैं और उससे उसे मृत्यु का भय उत्पन्न हो

जाता है। मनुष्य के दमित विचार ही उसके शत्रु बन जाते हैं और अकारण भय को भी उत्पन्न करते है। जब ऐसे विचारों को चेतना की स्तर पर आने की छूट दे दी जाती है और उनसे मैत्री स्थापित कर लिया जाता है तो अकारण भय का भाव समाप्त हो जाता है।

मनुष्य के अन्तर्मन मे न केवल अनेक प्रकार की वासनादि और इच्छाएँ हैं, वरन् उसके मन मे वह शक्ति भी है जिससे कि ये इच्छायें सुसगठित हो जाती हैं और मनुष्य के व्यक्तित्व को बल प्रदान करती हैं। मनुष्य जिस प्रकार दमित इच्छाओं को चेतना पर लाकर उसे नियंत्रण में रख सकता है उसी प्रकार मन की शैथिलीकरण की अवस्था मे अपने आपको निर्देश देकर इन इच्छाओं को सुनियत्रित कर सकता है और उनकी शक्ति का सदुपयोग कर सकता है आत्मनिर्देश की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य पहले अपने आपको शैथिलीकरण की अवस्था मे लाए जिस मनुष्य का अहकार, बढ़ा चढ़ा रहता है उसके मन का खिचाव भी बेहद बढ़ा रहता है। ऐसा व्यक्ति अपने आपको सन्निर्देश देने मे भी सफल नहीं होता। मनुष्य के भले विचार चेतन मन से अचेतन मन मे तभी जाते हैं जब कि वह अहंकार बुद्धि को समाप्त कर देता है। आत्मनिर्देश के द्वारा जटिल से जटिल मानसिक रोग उसी प्रकार समाप्त हो जाते हैं जिस प्रकार मनोविश्लेषण से समाप्त हो जाते हैं। वास्तव मे मनोविश्लेषण द्वारा मन के सुसंगठन के विषय मे आधा ही काम होता। इससे मानसिक ग्रन्थि बाहर तो आ जाती है, परन्तु नवशक्ति का जागरण नहीं होता। नवशक्ति का जागरण सन्निर्देश के द्वारा होता है चाहे यह सन्निर्देश दूसरे के द्वारा दिया गया हो अथवा अपने आप के द्वारा ही।

डा० विलियम ब्राउन के शिष्यों ने आत्मनिर्देश के द्वारा अनेक प्रकार के रोगों की चिकित्सा की। उनका कथन है कि आत्मनिर्देश न केवल मानसिक रोगों की समाप्ति के लिए ही आवश्यक है वरन् स्वस्थ पुरुषों के

लिए भी उनके मानसिक और शारीरिक शक्तियो के बढ़ाने के लिए आवश्यक है। डा० विलियम ब्राउन अपनी साइकालाजी एण्ड साइकोथीरेपी नामक पुस्तक मे लिखते हैं कि "निर्देश मनुष्य के अचेतनमन तक पहुँचने का एक सरल उपाय है। अवचेतन अथवा अचेतन मन, मन का वह भीतरी भाग है जिसमे हमारी मूल प्रवृत्तियाँ और हमारे पुराने अनुभवों के संस्कार रहते हैं। ये प्रवृतियाँ और संस्कार हमारे वर्तमान चेतना की क्रियाओं को प्रभावित करते रहते हैं। मनोविश्लेषण के द्वारा हम अचेतन मन तक पहुँचते हैं उसकी जटिलता को समझते हैं और मनोभावों के आपस के संबंध को जानने की चेष्टा करते हैं। इससे मानसिक ग्रन्थियों का निराकरण होता है। भय का कारण नष्ट हो जाता है और मन की विभिन्न शक्तियों मे एकत्व स्थापित हो जाता है। जब किसी मानसिक रोगी का मनोविश्लेषण हो चुकता है तब उसके पश्चात् आत्मनिर्देश का कार्य प्रारम्भ होता है। इसका लक्ष्य मानसिक एकत्व की भावना को दृढ़ करना और व्यक्ति को समष्टि की भावना से मिला देना होता है। हम एक परिवार के, राष्ट्र के मानव समाज के और विश्व के अग हैं। धार्मिक साधानाओं का उद्देश्य हमे इस एकत्व की ओर ले जाना रहता है। जिस प्रकार मानसिक चिकित्सा व्यक्ति के मन मे एकत्व स्थापित करती है उसी प्रकार धर्म भी व्यक्ति को समष्टि से मिलाता है। इस प्रकार की क्रिया से सदा एकता और पूर्णता की ओर प्रगति होती है। मानसिक चिकित्सा में सबसे अधिक लाभ तभी होता है जब व्यक्ति की सभी मानसिक शक्तियाँ एक ही लक्ष्य की ओर लगी रहती है। तभी व्यक्ति मे अधिक से अधिक कार्य क्षमता भी आती है। हम मे से प्रत्येक मे जितनी शक्ति है उस का बहुत ही थोड़ा सा भाग हम किसी भी समय अपने उपयोग मे लाते हैं। हम अपने मानसिक अन्तर्द्वन्द के कारण उस अन्तरमन की शक्ति को नहीं प्राप्त कर पाते। मनुष्य अपनी महान मानसिक शक्ति को मानसिक संघर्ष को हटा कर ही प्राप्त कर सकता है। परन्तु मानसिक सघर्ष को हटाना

शक्ति प्राप्ति का केवल नकारात्मक उपाय है। शक्ति प्राप्ति का विधेयात्मक उपाय अपने आप में विश्वास और अपने जीवन के लक्ष्य की महानता में तथा वेगपूर्ण आशावादिता में पूर्ण विश्वास है।

"देखा गया है कि समान बौद्धिक योग्यता के व्यक्तियों में चरित्र के बड़े बड़े भेद होते हैं। इन भेदों का मुख्य कारण उनका अपने आप में विश्वास तथा उनकी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति का विकास है। हममे जितनी आत्मनियंत्रण की शक्ति है उतनी से प्रारम्भ कर के उसे अभ्यास के द्वारा बढ़ा सकते हैं इस कार्य में मानसिक चिकित्सा बड़ी सहायक होती है। मेरा मत है कि आत्म सम्मोहन मनुष्य की कई प्रकार से सहायता कर सकता है इसके द्वारा हम अपने मन के ऊपर अधिकार प्राप्त कर सकते हैं और अचेतन मन की शक्तियों को अपने काम मे ला सकते हैं तथा अपनी कार्य क्षमता को बढ़ा सकते हैं। जिस प्रकार मानसिक चिकित्सा मे आत्म-निर्देश से सहायता प्राप्त की जा सकती है इसी तरह साधारण स्वस्थ व्यक्ति भी आत्म निर्देश से अपनी मानसिक शक्तियों का विकास कर सकता है। यदि कोई व्यक्ति मन और शरीर की शैथिलीकरण की अवस्था में विस्तर पर पड़े-पड़े अपने आपको शान्त भाव से बिना प्रयत्न किए हुए किसी प्रकार का निर्देश दे तो यह निर्देश उसके अचेतन मन को क्रियाशील कर देता है और इससे उसकी चित्त की एकग्रता स्मरण शक्ति तथा विशेष प्रकार की मानसिक योग्यताएं बढ़ जाती हैं। वह अपनी किसी विशेष बुरी आदत को इस प्रकार सुधार सकता है और इस तरह वह आत्म-विश्वास तथा आत्मनियत्रण बढ़ा सकता है।

पहले पहल अपने आप को निर्देश देने के लिए दूसरे व्यक्ति की आवश्यकता होती है, परन्तु पीछे व्यक्ति इस अभ्यास को अपने आप ही कर सकता है। इस विधि से मनुष्य के अचेतन मन मे पड़े हुए अनेक प्रकार के मानसिक खिंचाव और शक्ति के प्रवाह की बाधाएँ नष्ट हो जाती हैं और उसमे आत्म-स्फूर्ति और आत्मज्ञान की वृद्धि होती है। आत्म-

निदश के अभ्यास से अचेतन मन मे पड़े हुए सन्देह और भय हट जाते हैं और मनुष्य के मन के गम्भीर भाग से आनेवाली शक्ति रचनात्मक कार्य मे बिना रुकावट के लग जाती है। इससे मनुष्य में सफलता की कल्पना का उदय होता है और वह अपनी इस कल्पना शक्ति को एक लक्ष्य की ओर लगाने मे समर्थ होता है। श्रद्धा पूर्वक आत्मनिर्देश के प्रति दिन के अभ्यास से मनुष्य के स्वभाव मे मौलिक परिवर्तन हो जाता है। इसके द्वारा अपनी चिन्ता और आत्मभर्त्सना की मनोवृत्ति से मुक्त होकर वह दृढ संकल्प और आत्मविश्वास से भरा हुआ व्यक्ति अपने आप को बनाने में समर्थ होता है।"

आत्मनिर्देश के द्वारा मनुष्य अपनी जटिल से जटिल आदत से मुक्त होने में समर्थ होता है। बहुत से लोगों को काम वासना सम्बन्धी अनेक प्रकार की कुटेवें रहती हैं। कितने ही लोगों को प्रबल व्यभिचार की भावना रहती है और कितने ही अपनी इच्छा के प्रतिकूल परनिन्दा मे लग जाते हैं। वे जितना ही अपनी इच्छा शक्ति का उपयोग इन आदतों को समाप्त करने मे करते हैं उनकी ये आदतें उतनी जटिल हो जाती हैं। कभी कभी ऐसे व्यक्ति अपने आप से इतने हताश हो जाते हैं कि वे आत्महत्या तक की बात सोचने लगते हैं। ऐसे लोगों को अपनी आदत के विषय मे किसी प्रकार का उपदेश देना लाभप्रद नहीं होता। यदि वे अपने आदत की बुराई को अधिक जाने तो केवल उन्हें आत्मभर्त्सना होती है। ऐसे सभी लोग अपनी कुटेवों को मन से छुड़ाने का यत्न करने के बदले यदि वे मन को शिथिल करके आत्मनिर्देश के द्वारा इन कुटेवों के हटाने का यत्न करें तो वे थोड़े ही काल मे सफल हो जायँ। इस प्रसग मे डा० विलियम ब्राउन की सिगरेट की जटिल आदत से मुक्त होने का एक बड़ा ही शिक्षाप्रद प्रयोग उल्लेखनीय है। डा० विलियम ब्राउन लिखते हैं, आज से कुछ वर्ष पूर्व मैं बहुत ही अधिक सिगरेट पीता था। इस व्यसन के छोड़ने की मैंने बहुत बार चेष्टा की। कठिन प्रयत्न करने पर मैं कुछ

समय के लिए सिगरेट पीने के छोड़ने में समर्थ होता था, परन्तु इससे मेरी मानसिक दशा बिगड़ जाती थी, अर्थात् मैं बेचैनी और उत्साह हीनता का अनुभव करने लगता था। इसके कारण मुझे फिर से सिगरेट पीना पड़ता था। इस प्रकार जब मैं फिर से सिगरेट पीना प्रारम्भ करता तो पहले से अधिक सिगरेट पीता था। मैं ने एक ही बार के आत्म-निर्देश से इस जटिल आदत से सब समय के लिए छुटकारा पा लिया। इसके बाद न तो मुझे सिगरेट के अभाव मे मानसिक बेचैनी का अनुभव हुआ और न आज दिन तक मुझे सिगरेट पीने की इच्छा का ही अनुभव हुआ। आत्मनिर्देश द्वारा सिगरेट पीने की लत छोड़ने मे विशेषता यह है कि मुझे यह व्यसन छोड़ने पर भी मन मे किसी प्रकारकी बेचैनी का अनुभव नहीं हुआ। इसी कारण इच्छित प्रयत्न की अपेक्षा इस विधि द्वारा किसी जटिल आदत को समाप्त करना श्रेयस्कर है। आत्मनिर्देश इच्छाशक्ति को भी बली बनाता है। इच्छाशक्ति से किए गये कार्य आत्म निर्देश के द्वारा दृढ़ हो जाते हैं। आत्मनिर्देश मनुष्य की सफलता की कल्पना को दृढ़ बनाता है और इस सफलता की कल्पना के कारण मनुष्य की इच्छा शक्ति बलवती हो जाती है।"

मनुष्य की व्यक्तिगत इच्छा की सीमा बहुत थोड़ी है। इस इच्छा-का अनुभव हमारे चेतन मन का कार्य है। यह मनुष्य का व्यक्तिगत मन है। जबतक मनुष्य इसके ही भरोसे रहता है तबतक वह एक धोखे की टट्टी का सहारा लिए हुए है। मानसिक रोग की अवस्था मे मनुष्य की इच्छाशक्ति का बल बहुत ही कम हो जाता है। मन के भीतरी भाग मे अन्तर्द्वन्द रहने के कारण मनुष्य अपने निर्णय पर स्थिर नहीं रह पाता। वास्तव मे उसे किसी प्रकार के निर्णय से सन्तोष नहीं होता। ऐसी अवस्था मे संकल्प की दृढ़ता की चर्चा ही निरर्थक हो जाती है। अपने सकल्प को दृढ बनाने के लिए मनुष्य यदि अपनी व्यक्तिगत इच्छा के परे अन्तर्मन की शक्ति का सहारा ले तो उसे न तो अपने

निर्णयों को बदलना पड़े और न उसे अपने अनेक प्रकार के लौकिक कामों मे असफलता हो। अन्तर्मन की शक्ति की प्राप्ति के लिए मनुष्य को जहाँतक हो सकता है चेतन मन की चचलता और उसके अभिमान को समाप्त करना पड़ता है। शैथिलीकरण के अभ्यास से मनुष्य थोड़े समय के लिए अपने अहंकार से मुक्त होता है और वह अन्तरात्मा के अधिकाधिक सम्पर्क मे आता है। इस सम्पर्क से ही उसके चेतन मन की शक्ति विस्मय-जनक हो जाती है। अन्तर्मन का थोड़ा ही सम्पर्क मनुष्य के जीवन मे नवजागृति उत्पन्न कर देता है, और उसे अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोगों से मुक्त कर देता है।

मनुष्य जितनी भी मानसिक जटिलताओं का अनुभव करता है उनका कारण उसके अचेतन मन मे रहता है। चेतन मन के पुरुषार्थ के द्वारा अचेतन मन पर अधिकार प्राप्त करना संभव नहीं है। चार्ल्सयुङ्ग महाशय ने बताया है कि अचेतन मन चेतन मन के कहीं पहले की वस्तु है और अचेतन तत्व से ही चेतना का प्रादुर्भाव हुआ है। अतएव चेतन मन के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह अचेतन मन की भावनाओ इच्छाओं अथवा किसी प्रकार की कुटेवो पर अधिकार प्राप्त कर सके। इस प्रकार का प्रयास उसी प्रकार का होगा जैसे एक छोटे बालक का अपने माँ पर अधिकार प्राप्त करने का प्रयास। अचेतन मन मूल प्रकृति है और चेतन उसी से आविर्भूत हुआ है। अतएव यदि मनुष्य अपनी किसी ऐसी कुटेव के ऊपर अथवा किसी जटिलभावना के ऊपर जिसकी जड़ उसके अचेतन मन में है अधिकार प्राप्त करना चाहता है तो उसे अपने निजी प्रयत्न में विश्वास न कर उस अन्तरात्मा की शक्ति मे विश्वास करना होगा जो मूल प्रकृति के भी परे है। इस अन्तरात्मा का सम्पर्क चित्त को शान्त करके अपने आपको लय की अवस्था मे छोड़ देने से प्राप्त होती है। धार्मिक भावना की उपयोगिता इसी बात मे है कि इनके द्वारा मनुष्य सरलता से अपने अहंकार से मुक्त होकर ऐसी मानसिक शैथिली-

करण की अवस्था में आ जाता है जिससे अन्तरात्मा का सम्पर्क प्राप्त करना उसके लिए सरल हो जाता है। इसी के कारण धार्मिक भावना अनेक प्रकार के मानसिक रोगों को सरलता से समाप्त कर देती है। धार्मिक भावना का मूल मन्त्र इस बात में है कि मनुष्य व्यक्तिगत चेतना के परे एक अन्तर्यामी महान शक्ति की सर्वत्र उपस्थिति में विश्वास करने लगता है। इस सत्ता को हम एक ही रूप से सभी मनुष्यों के हृदय मे निवास करने की कल्पना करते हैं। इसे कभी-कभी अन्तर्यामी और कभी कभी ईश्वर कहा जाता है। इस अन्तर्यामी अथवा ईश्वर की शक्ति अपार है। परन्तु यह अन्तर्यामी हमारे आन्तरिक मन की ही वस्तु है। जबतक मनुष्य को यह ज्ञान नहीं हो जाता कि सब प्रकार के सुख और सफलता का स्रोत उसके व्यक्तित्व के बाहर न होकर उसके भीतर ही है तबतक वह आन्तरिक सन्तोष का अनुभव नहीं करता। प्रतिदिन के अभ्यास से मनुष्य इस आन्तरिक शान्तिमय तत्व की उपस्थिति की भावना को दृढ़ कर सकता है।

अभ्यास के द्वारा मनुष्य की सभी प्रकार की शक्तियों का विकास होता है। मनुष्य दृढ़ निश्चयपूर्वक अपने आपके विषय मे जिस प्रकार का चिन्तन करता है वह उसी प्रकार का अपने आप को बना हुआ पाता है। मनुष्य की सब प्रकार की साधनाएँ केवल निश्चयात्मक बुद्धि को बली बनाने के उपाय हैं। मनुष्य का मन एक चैतन्य अणु है। आज हमें इस बात मे विश्वास करने में कोई भी कठिनाई नहीं होती कि जड़ अणु की शक्ति अपार है। एक ही अणु के विस्फोट होने से ससार का एक बड़ा से बड़ा नगर ध्वस्त हो सकता है फिर हमें इस बात के विश्वास करने मे क्या कठिनाई हो सकती है कि चैतन्य अणु अर्थात् मनुष्य के मन की सम्पूर्ण शक्ति के क्रियमाण होने से कठिन से कठिन कार्य सरल हो जाता है। जड़ अणु की शक्ति भौतिक होती है और चैतन्य अणु की शक्ति आध्यात्मिक। भौतिक शक्ति जितना अधिक काम

कर सकती है उससे कहीं बहुत अधिक कार्य चेतन शक्ति अर्थात् ज्ञान शक्ति कर सकती है। एक ही मनुष्य का विचार संसार के करोड़ों मनुष्यों के विचारों को सदियों के लिए नए प्रकार का रूप दे सकता है। निश्चयात्मक मनोवृत्ति का व्यक्ति न केवल अपने आप शान्तभाव मे रहता है वरन् वह अपने ज्ञान की ज्योति के द्वारा संसार के करोड़ों नर-नारियों के अनेक प्रकार के अकारण भय चिन्ता और मानसिक रोगों को समाप्त कर देता है और छोटी कठिनाइयों से हताश होनेवाले व्यक्तियो को मृत्यु से भी निर्भीक बना देता है। हम सभी इस प्रकार के चैतन्य अणु हैं। जितना ही अधिक हम अन्तर्मुखी बनकर अन्तरात्मा की शक्ति का ध्यान करते हैं उतनी ही अधिक हमारी लौकिक कार्यों में कार्य क्षमता बढ़ती जाती है और उतना ही हम अनेक प्रकार से स्वस्थ और आनन्द से परिपूर्ण होते जाते हैं।

पन्द्रहवाँ प्रकरण

मनोवैज्ञानिक संजीवनी

मनुष्य के जीने के लिये, उसके जीवन मे प्रगति के लिये, उसके स्वास्थ्य सुधार के लिये जितनी भौतिक साधनों की आवश्यकता है उससे कहीं अधिक आवश्यकता उसे उसके विचारों मे परिवर्तन की है। जिस मनुष्य का जीवन की विभिन्न घटनाओं के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण है, जो आशावादी कल्पना सदा मन मे लाता है और अपने आप को भले विचारों के वातावरण मे डाल देता है वह न तो जटिल शारीरिक और न मानसिक रोगों में पड़ता है, न किसी सामाजिक, राजनीतिक अथवा आर्थिक उलझन में आ फसता है जिससे निकलने का वह मार्ग ही न देखे और न वह अकारण ही अपने आप शत्रुओं की सृष्टि कर लें। उचित दृष्टिकोण होने पर जीवन की कठिन से कठिन उलझनें सरलता से सुलझ जाती हैं। जटिल से जटिल मानसिक अथवा शारीरिक रोग आशावादी कल्पनाओं के कारण व्यक्ति को छोड़ देते हैं और जहाँ दूसरे व्यक्ति को सफलता के कोई चिन्ह दिखाई नहीं देते वहाँ उचित दृष्टि बिन्दु वाला व्यक्ति अनेक प्रकार की अपने कार्य मे सहायक सामग्री पा लेता है।

मनुष्य के विचार उसके स्वास्थ्य पर कितने प्रकार का चमत्कारिक प्रभाव डालते हैं। अभी हाल की बात है कि हमारे पास दो नवयुवक अपनी व्याधियों को लेकर आये। एक ६ साल से स्वप्नदोष से पीड़ित था और अपने जीवन से ही निराश हो चुका था। एक दूसरे नवयुवक को अकारण ही 'नाराज' शब्द हर समय सुनाई देते रहता था। खाते, पीते, उठते, बैठते, वह हर समय 'नाराज' 'नाराज' की ध्वनि सुनते रहता था। इस आवाज के कारण वह अपने मित्रों मे हँस, खेल नहीं सकता

था। किसी प्रकार के मनोरंजन मे भाग नहीं ले पाता था और जीवन के भविष्य के विषय मे दृढ़ निश्चय नहीं कर सकता था। ये दोनों ही नवयुवक देखने मे आकर्षक, शरीर में सुडौल, और बातचीत मे बड़े चतुर हैं, परन्तु अपनी मानसिक परेशानी के कारण दोनों ही उदास और चिन्तित दिखाई देते थे। दोनों बड़े होनहार इस दृष्टि से हैं कि इन्होंने अनेक प्रकार की आर्थिक कठिनाइयाँ होते हुए भी कालेज की उच्चतम वर्ग को पास करने का निश्चय कर लिया है। स्वप्नदोषवाला विद्यार्थी तो सदा प्रथम श्रेणी का विद्यार्थी रहा है और 'नराज' ध्वनि से पीड़ित व्यक्ति इस समय आइ० ए० पास करके रेलवे का कर्मचारी है। दोनों ही युवक अविवाहित हैं। बीस वर्ष की अवस्था के लगभग हैं। स्वप्नदोष के रोगी ने अपने रोग का अनेक कुशल वैद्य व डाक्टरों से कई प्रकार का उपचार कराया, 'परन्तु मर्ज बढ़ता ही गया ज्यों ज्यों दवा होती गई'। किसी ने सहानुभूति मे आकर सलाह दी कि यह रोग विवाह करने पर ही जायगा। किसी ने सलाह दी कि अपने गन्दे विचारों पर नियन्त्रण रक्खा, कामवासना सम्बन्धी किसी विचार को मन मे न आने दो, सभी साथियों की हँसी मजाक की बातों से दूर रहो, आजकल के कामोत्तेजक सिनेमा फिल्मों को मत देखो तो धीरे धीरे धीरे तुम्हारे स्वप्न काम उत्तेजक दृश्यों से मुक्त हो जायेंगे। इस नवयुवक ने यह सब अपने शरीर के सजावट को छोड़ दिया, न केवल अपने मिलने जुलने में उसने परिवर्तन किया वरन् भोजन मे भी सादगी अपनाई। जान-बूझकर शरीर को क्लेश मे रखने लगा। तिस पर भी उसने देखा कि जिन काम क्रीड़ा की बातों को वह अपनी जागृतावस्था मे कभी मन में नहीं आने देता वे ही स्वप्नावस्था में अनेक प्रकार के सज धज के साथ सताया करते थे। जितना ही वह स्वप्नदोष को रोकने का प्रयत्न करता है वे दिन प्रतिदिन बढ़ते जाते थे। अब तो उसे धीरे धीरे इस लड़ाई मे विजय प्राप्ति से निराशा आने लगी। उसने मेट्रिक़ कई विषय मे डिस्टींकंसन के साथ पास किया। आइ०

एस० सी० मे उसे पूरा प्रयत्न करने पर भी द्वितीय श्रेणी मिली। इस समय वह बी० ए० में प्रथम श्रेणी के बदले द्वितीय श्रेणी का विद्यार्थी बन गया है। जब उसके अभिभावकों ने उसकी विवाह करने की बात सोची तब वह उससे भी घबड़ाया। उसने सोच लिया था कि वह तो शीघ्र पतन वाला अथवा एक प्रकार का नपुंसक व्यक्ति बन चुका है। वह किसी युवती का जीवन क्यों खराब करें। इस प्रकार के निराशाजनक विचार उसे पागलपन की ओर ले जा रहे थे।

जब यह युवक मनोविज्ञानशाला मे आया उस समय उसकी छमाही परीक्षा हो रही थी। उसने परीक्षा की पूरी तैयारी की थी, परन्तु सब प्रकार की तैयारी होने पर भी वह अकारण सिर की पीड़ा, हृदय की धड़कन, मानसिक बेचैनी, और अनिद्रा के कारण परीक्षा न दे सका। वह अपने आप से काफी लड़ता था। जब उसके तीन, चार पर्चे रह गये थे। वह अपने नगर से एकाएक अपने एक मित्र के पास बनारस चल पड़ा। यहाँ पर वह एक प्रतिष्ठित डा० से मिला। उन्होंने कुछ दवा बताई परन्तु एक पुर्जे पर लिख दिया कि यह मानसिक रोगी है। रोगी चालाक तो है ही डा० की कलम के हलचल से ही डा० ने गुप्त पुर्जे मे क्या लिखा है जान गया। फिर वह मानसोपचार की खोज मे शाला में आया। उसने अपने जीवन की पूरी गाथा कह सुनाई, और अपना यह निश्चय बताया कि जब मैं इस रोग से मुक्त हो जाऊँगा तभी आगे पढ़ूँगा वरन् पढ़ना त्याग दूँगा। जब रोग के कारण प्राण ही गँवा देना है तो पढ़ने से क्या लाभ और मैं यह नहीं चाहता कि पढ़ते हुए तृतीय श्रेणी मे पास करूँ।

इस विद्यार्थी की सभी मानसिक वेदनायें बड़ी सहानुभूति के साथ सुनी गई। यह दर्शन का विद्यार्थी है और नीतिशास्त्र का बहुत ही अच्छा उसका अध्ययन है। अपने विषय का अच्छा विद्यार्थी होने के नाते उसके प्रति लेखक को विशेष प्रकार का सहज स्नेह हुआ। उससे दो घंटे तक

बातचीत हुई और उसे कई दूसरे रोगियों का उदाहरण देकर बताया गया कि जितना उसका रोग भयंकर है उससे भी अधिक भयकर रोग से पीड़ित व्यक्ति मानसोपचार के द्वारा इस रोग से मुक्त हो चुके हैं। इस रोग से मुक्त होने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि मनुष्य अपने साधारण कर्मों में किसी प्रकार की त्रुटि न होने दे और अपने साधारण कर्तव्य के प्रति पलायनवाद की मनोवृत्ति न रक्खे। जो व्यक्ति अपने जीवन की सामान्य लड़ाइयों से हतोत्साह हो जाते हैं, जो परिस्थितियों की कठिनाइयों से डरकर भागते हैं वे न तो अपने मानसिक न शारीरिक रोग से मुक्ति पाते हैं, ऐसे व्यक्तियों का आन्तरिक मन किसी न किसी प्रकार के रोग का आवाहन करते रहता है, और जब इन लोगों को कोई कल्पित अथवा वास्तविक रोग सताता है तो वह उन्हे सरलता से नहीं छोड़ता। जबतक रोगी के विचार आशावादी नहीं बनते तब तक उसका रोग हलका नहीं होता। काम वासना के क्षेत्र मे पलायनवाद की मनोवृत्ति के व्यक्ति आत्म-विजय प्राप्त करने मे समर्थ नहीं होते। जो व्यक्ति जीवन के क्षेत्रों मे हारकर निराशावादी बन चुके हैं वे चाहे कितनी साधनायें क्यों न करें अपने आप पर विजय प्राप्त करने में असफल ही रहेंगे। परीक्षाओं से भागने की मनोवृति जीवन में पलायनवाद का द्योतक है। परीक्षाओं से भागने से मानसिक रोग अनायास ही बढ़ जाते हैं। स्वप्नदोष एक प्रकार का मानसिक रोग हैं। यदि मानव इसके कारण किसी कामके करने से जी चुराता है अथवा परीक्षाओं से भागता है तो यह रोग और भी बढ़ जाता है। स्वप्नदोष जैसे-जैसे इच्छा शक्ति की दुर्बलता बढ़ती जाती है वैसे-वैसे जटिल होता जाता है। यदि किसी भी प्रकारके कार्यसे इच्छा-शक्ति बलवान हो तो उसका प्रभाव अवश्य हो स्वप्न दोष के निवारण में होता है। अपनी इच्छाशक्ति की दुर्बलता को हटाने का उपाय जिम्मेदारियों से भागना नहीं वरन् उनका सामना करना है। अपनी असफलता की मनोवृति को हटाकर, उसके बदले सफलता की मनोवृति लाना है।

सफलता की मनोवृत्ति लाने के लिये एक ओर मनुष्य को अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये सतत चेष्टा करनी पड़ती है दूसरी ओर उसे अपनी महत्वाकांक्षाओं को कम करना पड़ता है, इच्छाशक्ति से दुर्बल अर्थात् निकम्मे लोग ही ऐसे आदर्शों की सृष्टि कर लेते हैं जिनका प्राप्त करना उन्हें असम्भव है। फिर इन आदर्शों की प्राप्ति की सम्भावना न देखकर वे प्रयत्न हीनता की शरण ले लेते हैं, इस प्रकार वे अपनी इच्छाशक्ति को और भी दुर्बल बना देते हैं, ऐसे लोगो का मन रोगों का आवाहन करने लगता है, जिससे वे कर्तव्य से मुक्ति पा जावें। जो व्यक्ति आत्म-विजय प्राप्त करना चाहता है और अपने अचेतन मे उपस्थित प्रवृतियों को नियन्त्रित करना चाहता है उसके लिये यह आवश्यक है कि वह बाह्य जगत् की परीक्षाओं से न भागे। अपनी आकांक्षाओं को इतना ही बनावे जितना उसके सामर्थ्य के भीतर हो।

उक्त बातचीत को विद्यार्थी ने बड़ी गम्भीरता पूर्वक सुना और तुरन्त ही उसने यह प्रश्न किया कि क्या मैं अभी अपनी परीक्षा मे फिर से बैठ जाऊॅ, अभी कवल दो ही पर्चे मैंने छोड़े हैं। उसे उत्तर दिया गया तुम अपनी अन्तरात्मा की इस आवाज के अनुसार अपना कर्तव्य पूरा करो और परीक्षा समाप्ति के बाद फिर मेरे पास आओ। विद्यार्थी तुरन्त उठा, रेल पकड़ी, घर पहुँचा। शेष विषयों की परीक्षा दी और पुनः वापस आ गया। अब की बार वह दूसरे प्रकार का व्यक्ति बन चुका था। जो व्यक्ति अपनी बड़ी शर्म व झिझक के साथ अपनी एक एक बात कहता था वह तेजी के साथ एक ही साँस मे अनेक बातें जिनका संबंध उसके जीवन की भावात्मक घटनाओं से था कहने लगा। इस विद्यार्थी को जाते समय पहली बार 'नई मानसिक चिकित्सा' दे दी गई थी। उसने थोड़े ही काल मे आद्योपान्त पढ डाला था, और उसमे बताये गये प्रयोगों से अपने जीवन की बातों से तुलना भी कर ली थी। वह मानसोपचार की कुंजी को समझ चुका था। उसने अपने समलिंगी प्रेम के अनुभव और सभी

प्रकार के व्यभिचार की प्रेरणा के अनुभव कह सुनाये। इन सबको कहने से उसके मन का भार उतर सा गया। यह विद्यार्थी ८ दिन तक ठहरने के लिये आया था लेकिन प्रायः दो ही दिन में उसके विचार इतने आशावादी बन गये कि उसने इतनी देर तक मनोविज्ञानशाला में ठहरना अनावश्यक समझा। उसे अपने मित्रों से मिलने जुलने के लिये घर भेज दिया गया।

इस विद्यार्थी को जो बात बताई गई वे मनोविज्ञान की अकाट्य सत्य हैं। मनुष्य जितना ही किसी लज्जास्पद बात को दूसरों से अथवा अपने आप से छिपाता है वह उतना ही अधिक भयानक परिणाम उत्पन्न करता है। इमरसन महाशय का कथन है कि जिस बात को तुम गुप्त कमरे में कहते हो वही एक दिन मकान की छत पर से चिल्लाकर बताई जायगी। अतएव अपनी शर्म की बातों को श्रद्धास्पद व्यक्ति के सामने स्वीकार करने से मनुष्य को हानि नहीं होती अपितु लाभ होता है। यह स्वप्न दोष जैसे भयानक रोगों से मुक्त होने की प्रथम आवश्यकता है। इस व्यक्ति को न केवल हस्तमैथुन और समलिंगी व्यभिचार के अनुभव हुये, जो सामान्य हैं, वरन् उसे अपनी ही निकट के संबंध की एक युवती के प्रति प्रबल कामोत्तेजना हुई थी और उसके आवेग में आकर उसने कुछ ऐसी चेष्टायें कर डाली थीं जिससे उसे भारी आत्म सन्ताप हुआ था। उसकी ये स्मृतियाँ दमित हो चुकी थी। परन्तु उन्हीं का परिणाम स्वप्नदोष में वह भोग रहा था। इस आत्मस्वीकृति के पश्चात् देखा गया कि इसमें एक नया उत्साह आ गया। उसने अपनी कमजोरियों को स्वीकार करने में अब हिचकना छोड़ दिया। इस समय उसने अपने जीवन की एक निर्णयकारी घटना भी कह सुनाई। यह युवक साइंस का विद्यार्थी आई० एस० सी० तक था। जिस नगर में वह रहता है वहाँ डिग्री कक्षाओं को विज्ञान पढ़ाने का उचित प्रबंध नहीं है, अतएव काशी विश्व विद्यालय में उसने पढ़ने के लिये फीस दे दी। इसी अवसर पर अपने एक मित्र से

बात करते समय उसे ज्ञान हुआ कि काशी विश्वविद्यालय की साइन्स कक्षा में भर्ती होने के लिये विद्यार्थियों की डाक्टरी परीक्षा होती है और उन्हें कक्षा मे नंगा करके देखा जाता है। यह विद्यार्थी अपने आपको नपुंसक मान चुका था। वह इस परीक्षा का नाम सुनकर घबड़ा गया और उसने काशी मे साइंस पढ़ने का निश्चय ही छोड़ दिया, फिर अपने ही नगर मे जाकर बी० ए० कक्षा मे नाम लिखाया।

इस विद्यार्थी की नपुसकता की धारणा कोरी कल्पना मात्र थी। यह उसे अकारण भय से उत्पन्न हो गई थी। इस कल्पना के पीछे वह मानसिक ग्रन्थि कार्य कर रही थी जिसके कारण वह अपने आप को भारी अपराधी अथवा निकम्मा मान चुका था। उक्त ग्रन्थि के समाप्ति के साथ साथ नपुसकता का डर भी खतम हो गया। उसकी जननेन्द्रिय की भयानक बाते समाप्त हो गई, वास्तव मे इस विद्यार्थी को कोई शारीरिक रोग था ही नहीं, उसके स्वप्नदोषों की संख्या प्रायः उतनी थी, जितनी किसी भी अविवाहित नवयुवक को होती है वह शरीर से तगड़ा और सुगठित है। खूब दौड़ सकता है। वह खेल सकता है। व्यायाम भी करता है। परन्तु सबके साथ उसके दृष्टिकोण मे भ्रम होने के कारण अपने आप को निकम्मा मान चुका था। सदा भय की भावना में रहने के कारण उसे अकारण चिन्ता, हृदय की धड़कन, कोष्टबद्धता, सिर की पीड़ा आदि रोग त्रास देने लगे थे। इन्हीं के कारण वह अब परीक्षा से भी जी चुराने लगा था। उसका पैतृक स्वास्थ्य अच्छा था। इसलिये उसे इतनी व्याधियोंके होने पर भी कोई जटिल शारीरिक रोग ने न पकड़ा अन्यथा सदा चिन्ता, निराशा, आत्म भर्त्सना से पीड़ित व्यक्ति दमा, क्षय. अथवा दूसरे कोई जटिल रोगों के शिकार बन जाते हैं। प्रसन्नता कि बात है कि इस विद्यार्थी की दृष्टि मे आमूल परिवर्तन हो गया। उसने समझ लिया कि काम-वासना पर विजय हताश मनोवृति के व्यक्ति नहीं अपितु सतत् उत्साही व्यक्ति पाते हैं। दूसरी बात जो बताई गई कि अपने ही

मनोभावों पर विजय प्राप्त करने का, उन्हें शत्रु मानकर दमन करना नहीं है वरन् मित्र मानकर उसकी शक्ति को रचनात्मक कार्य में लगाना है। अपने को कोसनेवाले व्यक्ति अपनी न तो भौतिक उन्नति करते हैं न आध्यात्मिक। काम वासना के आवेगों की अनुभूति उसी प्रकार आवश्क है जिस प्रकार क्षुधा की अनुभूति स्वाभाविक है इसकी उचित तृप्ति करना अथवा सद्उपयोग करना ही सच्ची अनुभूति है। जिन लोगों की काम-वासना जितनी प्रबल होती है जब वे अपने दृष्टिकोण को परिवर्तित कर देते हैं तब वे उतने ही चमत्कारिक कार्य कर दिखाते हैं।

जो सिद्धान्त इस नव युवक को बताये वे ही सिद्धान्त 'नाराज' शब्द की ध्वनि सुननेवाले व्यक्ति को भी बताये गये। यह रोगी भी उसी प्रकार महत्वाकांक्षी, अत्युच्च आदर्शों को धारण करता है जिस प्रकार पहला नवयुवक है। जब मनुष्य के नैतिक आदर्श बहुत ऊँचे होते हैं और उनके अनुसार चलने की क्षमता उनमें नहीं रहती तो उसे अपने आपको भुलाने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है। वह फिर आदर्श के प्रतिकूल किये गये आचरण की स्मृतियों का दमन करता है। इससे उसमें मानसिक विभाजन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। फिर उसका एक स्वत्व दूसरे स्वत्व की उसके अनजान ही भर्त्सना करता रहता है। मनुष्य इस भर्त्सना की क्रिया को नहीं पहचान पाता, वह उसके परिणाम मात्र को किसी ऐसे रोग के रूप में देखता है जिसका कारण न डाक्टर समझ पाता है न रोगी।

जब मनुष्य अकारण ही किसी विशेष प्रकार की ध्वनि सुने अथवा किसी विशेष प्रकार के बाह्य विचार से पीड़ित हो तो हमे समझना चाहिये कि इस ध्वनि का कारण उसके किसी ऐसे अतीत काल की अनुमति में है जिसके लिये उसकी अतरात्मा उसे दण्ड देना चाहती है। इस रोगी की अन्तरात्मा उसके किसी काम कृत्य से नाराज हो गई थी। वह उस घटना को भूल चुका था—अब अन्तरात्मा की नाराजगी के भाव ने एक ऐसी ध्वनि का रूप लेलिया था जो रोगी के हटाये नहीं हटती

थी। कभी कभी ऐसे रोगी को अपने आस पास चारो ओर गंदा ही गंदा दिखाई देता है। कोई रोगी साधारण सी गन्दगी मे मैले का सन्देह करने लगता है। कई एक रोगी शौच के बाद आध घंटे तक हाथ साफ करते हैं परन्तु फिर भी गन्दे ही लगते हैं। कितने ही रोगी व्यक्तियों को घर की वस्तुओ को थोड़ी इधर उधर हो जाने पर बेहद परेशानी हो जाती है वे सभी बातों मे अव्यवस्था ही देखने लगते हैं। इस प्रकार की परेशानी का कारण मनुष्य के अन्तरमन मे उपस्थित गन्दगी की भावना, अव्यवस्था अथवा नाराजगी मे रहता है। बाहरी परिस्थिति पर ये भाव आरोपित हो जाते हैं। जिससे कि मनुष्य अपने मन की वस्तुस्थिति को नहीं पहचानता है वह अपनी परेशानी का कारण अपने आपको न जान कर किसी बाहरी पदार्थ पर आरोपण कर सकता है।

उपर्युक्त प्रकार के मानसिक रोगियो की चिकित्सा उनका जीवन के प्रति मूल्यों मे परिवर्तन करने से सरलता से हो जाती है। जब मनुष्य का अपनी नैतिकता के विषय में अहंकार अत्यधिक बढ़ा रहता है तब उसे जीवन को छोटी छोटी सी घटनाये बेहद त्रास देने लगती है। मनुष्य अपने अहकार को छोड़ना नहीं चाहता अतएव नैतिकता के प्रतिकूल किये गये आचरण को वह स्मरण न रख कर उसे भुलाने की चेष्टा करता है। वह बार बार इस प्रकार की चेष्टा करने से उन कृत्यों को भूल जाता है जिससे आत्म ग्लानि हुई। फिर उसके दबे हुये आत्म ग्लानि के भाव किसी ऐसी नगण्य घटना पर अथवा पदार्थ पर समय समय पर आरोपित हो जाते हैं जिनमे और पुरानी आत्म ग्लानि पैदा करने वाली घटना मे समानता रहती है। यदि किसी व्यक्ति ने किसी अकेले स्थान में उसीके द्वारा मानी हुई नैतिकता के प्रतिकूल आचरण करके आत्म ग्लानि की अनुभूति की है और इसके कारण उसकी पुरानी घटना की स्मृति का दमन हो गया है तो वह कभी कभी अकारणही अकेले रह जाने पर एक ऐसे भय का अनुभव करेगा जिसका न कारण उसके समझ मे

आयेगा न दूसरे ही पा सकेंगे। ऐसे व्यक्ति का जीवन एक ओर बड़े उच्च स्तर का होता है दूसरी ओर उसे मानसिक परेशानी भी रहती है। कभी कभी ऐसे व्यक्ति को अकारण ही हृदय की धड़कन होने लगती है, यह धड़कन उसके अनजाने ऐसी वासना की उत्तेजना से हो उठती है जिसे उसकी नैतिक बुद्धि अपना शत्रु मान चुकी है और जिसके चेतना के स्तर पर आने पर हानि पहुँचने की सम्भावना बनी रहती है। जब ऐसे व्यक्ति का अपने हेय समझे जानेवाले भावो के प्रति दृष्टिकोण परिवर्तित किया जाता हैं तो उनका रोग सब समय के लिए समाप्त हो जाता है। इस प्रकार के रोग की समाप्ति के लिये रोगी के प्रति अत्यन्त घनिष्ठता दिखाकर उसे प्रोत्साहित किया जाता है ताकि वह अपनी किसी लज्जास्पद बात को स्मृति पटल के नीचे दबाये न रखने के बदले उसकी आत्म स्वीकृति करे और उस अनुभव को अकल्याणकारी न मानकर कल्याण-कारी ही माने। सत्पुरुष वह है जो जीवन की सभी घटनाओं मे अनुकूलता देखता है। सभी पुरुषों मे भलाई और सभी वस्तुओं मे सौंदर्य देखता है। वास्तव मे मनुष्य अपने दृष्टि विन्दु से ही अपने वातावरण का और अपने ससार का निर्माण करता है। जिस व्यक्ति का अपने जीवन की बातो के प्रति उचित दृष्टि कोण है वही अपना तथा दूसरों का सच्चा लाभ कर सकता है और जिसका दृष्टिकोण गलत है उससे न केवल समाज का ही अहित होता है वरन् अपने आप का भी अहित होता है। अपने आप को सदा कोसने वाला व्यक्ति कभी भी किसी प्रकार की महानता प्राप्त नहीं करता। इस कोसने का कारण मनुष्य की महत्वाकाक्षा मे रहता है। यदि मनुष्य अपनी आकाक्षाओं और अपनी योग्यता मे समतुलन रक्खे तो उसे न नैतिक क्षेत्र मे न भौतिक क्षेत्र में अपने आप को कोसने की आवश्यकता पड़े। ऐसे व्यक्ति को वे मानसिक रोग नहीं होते जो असाधारण महत्वाकांक्षी को होते हैं ऐसे व्यक्ति की शक्तियाँ रचनात्मक कार्य में लगी रहती हैं। सदा सफलता की

मनोवृति से ओत प्रोत व्यक्ति जहाँ जाता है नर-नारियों में सफलता और प्रसन्नता की मनोभावनाओं का जागरण करता है ऐसे व्यक्ति के दर्शन मात्र से उसके क्षणिक बातचीत से समाज के दूसरे लोगों को अकथनीय लाभ होता है। जिस समाज में आशावादी व्यक्ति का बाहुल्य है वह समाज धन्य है।

उपर्युक्त नवयुवक से जो बात चीत हुई उससे उसके जीवन का दृष्टि बिन्दु परिवर्तित हो गया। उसने भी अपने जीवन की समष्टि भावात्मक घटनाओं का कह सुनाया। दोनों एक साथ ही शाला मे ठहरे थे। उन दोनों का आपस मे विचारों का आदान प्रदान भी हुआ, इससे भी दोनों को भारी लाभ हुआ। मनोविज्ञानशाला के दो एक कार्य कर्ताओं ने उनके उपचार मे भारी सहायता की। ये लोग भी ऐसे ही रोगों से पीड़ित रह चुके थे जैसे उपर्युक्त दोनों थे। इनकी सफलता और आदर्श वादिता ने एक सजीवनी का कार्य किया और इसके कारण जो लोग किसी भारी शारीरिक अथवा मानसिक रोग की तैयारी कर रहे थे सदा के लिये व्याधियों से मुक्त होकर एक दिन मे आशावादी विचार लेकर अपने अपने घर चले गये। यह निश्चित है कि जैसे जैसे वे इस दृष्टि विन्दु को ध्यान मे रखकर अपना साधारण क्रियायें करेंगे वह केवल अपने लिये नहीं वरन् सभी के लिये कल्याणकारी मार्ग का अन्वेषण कर लेंगे और समाज़ को कोई अलौकिक देन देंगे।

सोलहवाँ प्रकरण

मानसिक चिकित्सा का रहस्य

रोग मनुष्य की असमर्थता का द्योतक है। जिस मनुष्य को जीवन में आशा और उत्साह रहते हैं, जिसकी कल्पना रचनात्मक होती है जो अपने मन को किसी रचनात्मक कार्य मे लगाए रखता है उसे न तो मानसिक रोग रहता है और न सरलता से कोई शारीरिक रोग भी उसे आता है। जब मनुष्य की परिस्थितियाँ बहुत कुछ उसके प्रतिकूल होती हैं और जीवन उसे भार रूप बन जाता है तब वह आन्तरिक मन से बड़ा बेचैन हो जाता है कोई भी मनुष्य अपने आपको असमर्थ और निकम्मा जानकर सुखी नहीं रहता। अपने निकम्मेपन का ज्ञान मनुष्य को जितना दुख देता है उतना दुख और कोई दूसरी बात से नहीं होता। अपने निकम्मेपन को भुलाने के लिए मसुष्य रोग का आवाहन करता है जिससे कि वह अपनी आत्मग्लानि को किसी प्रकार भुला सके और अपने आपको न कोस कर अपनी असफलता के कारण को किसी बाहरी बात के सिर मढ़ सके। इस तरह कितने ही मनुष्यों के शारीरिक अथवा मानसिक रोग उनके जीवन की रक्षा करते हैं। वे मानो अन्धे की लकड़ी बनकर किसी प्रकार उनके जीवन को चलाते रहते हैं।

मनुष्य की असफलता की अनुभूति दो प्रकार की होती है—एक भौतिक जीवन में असफलता और दूसरे नैतिक जीवन की असफलता। प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्तर्मन से दोनों ही प्रकार की सफलताओं का इच्छुक होता है। जब किसी मनुष्य को संसार मे धन दौलत और लौकिक सम्मान उतना नहीं मिलता जितने की वह आशा करता है तब वह अपने आपके विषय में निराश हो जाता है। वह अपने भाग्य को कोसने

लगता है। यदि वह इस असफलता के कारण को परिस्थितियो पर आरोपित कर सका तब वह अपनी असफलता के लिए अपने आप को न कोस कर परिस्थितियों को ही कोसता है। इससे वह आत्मवेदना से थोड़े समय के लिए बच जाता है। परन्तु जब उसका विवेक परिस्थितियो मे अपनी असफलता का पर्याप्त कारण नहीं देखता, तब वह अपने आप को ही कोसने लगता है। इस प्रकार की कोसने की मनोवृत्ति से बचाने के लिए मनुष्य का आन्तरिक मन किसी प्रकार के रोग का निर्माण कर लेता है जिससे कि उसका मन आत्म-विनाश के कार्य अथवा अपने को कोसने मे न लगाकर किसी दूसरे प्रकार की चिन्ता मे फँसा रहे और इस प्रकार वह अपनी असमर्थता को भुला सके, तथा उसके कारण को किसी बाहरी वस्तु से मढ़ सके। जिस व्यक्ति की महत्वाकाक्षायें जितनी बड़ी होती हैं उसे इस प्रकार के रोगी बनने की उतनी ही अधिक आवश्यकता होती हैं। लौकिक जीवन मे असफल व्यक्ति न्यूरेस्थेनियाँ, हैपोकेण्ड्रिया आदि मानसिक रोगों अथवा अनेक प्रकार के ऐसे शारीरिक रोगों से पीड़ित हो जाते है जिनका कारण मानसिक होता है जैसे दमा, सिर की पीड़ा, पेटकी पीड़ा, लकवा आदि।

दूसरे प्रकार की असफलता नैतिक होती है। जब मनुष्य अपनी विवेक बुद्धि के प्रतिकूल आचरण करता है तो उसे भारी आत्मग्लानि होती है। वह अपने कृत्य को जन समाज से तो छिपाने मे समर्थ होता है परन्तु अपने आप से छिपाने मे समर्थ नहीं होता। कोई भी मनुष्य अपने आप के विषय मे यह सोचना नहीं चाहता कि वह नैतिक दृष्टि से अपने ही समान दूसरे लोगो से किसी प्रकार हीन है। जिस मनुष्य को भौतिक धन की अथवा उच्च कुल की कमी रहती है वह अपने नैतिक धन से सतोष करता है। मनुष्य का नैतिक धन दूसरे प्रकार के धनों से श्रेष्ठ है। जब किसी व्यक्ति को इस धन के खोने का ज्ञान होता है तो उसे भौतिक धन के खोने से भी अधिक वेदना होती है। जिस मनुष्य को

नैतिक धन है वह दूसरों का सम्मान पावे अथवा नहीं उसे आत्म-सम्मान तो रहता ही है। जब किसी कारण वश मनुष्य कोई ऐसा आचरण कर डालता है जिससे कि उसकी नैतिकता को आघात पहुँचता है तब वह भारी आत्म-ग्लानि का अनुभव करता है और वह अपने आप को कोसने लगता है। जिस मनुष्य को अपनी नैतिकता का जितना ही अधिक अभिमान रहता है उसे अपने को कोसने की उतनी ही अधिक आवश्यकता रहती है। इस प्रकार के कोसने से बचाने के लिए अर्थात् अपनी नैतिक कमी को भुलाने के लिए भी मनुष्य को अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। ये रोग प्रतीक रूप से मनुष्य की दबी हुई भय की भावना को बाहर करते है। नैतिकता को दृढ़ बनाये रखने के लिए मनुष्य को अपनी प्रबल पाशविक प्रवृत्तियों का दमन करना पड़ता है इन प्रवृत्तियों का दमन होने पर उनकी शक्ति और भी बढ़ जाती है। फिर ये प्रवृत्तियाँ किसी विशेष परिस्थिति मे अपने आप उत्तेजित हो जाती हैं और इनके उत्तेजित होने के साथ साथ मनुष्य मे अकारण भय, चिन्ता, हृदय की धड़कन अथवा किसी विशेष प्रकार की शारीरिक पीड़ा पैदा हो जाती है। जो मनुष्य अपनी प्रबल पाशविक प्रवृत्तियो पर विजय प्राप्त करने का सामर्थ खो देता है तो उसे अपने आप को भुलाने के लिए देर तक रहने वाले शारीरिक अथवा मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार दमा, क्षय, एक्जिमा, आदि शारीरिक रोग और अकारण चिन्ता तथा मैलेंकोलिया जैसे मानसिक रोग ऐसे व्यक्तियों को हो जाया करते हैं।"

अभी हाल की ही बात है कि एक युवक स्मरण शक्ति के ह्रास और कुष्ठ रोग हो जाने के भय से पीड़ित होकर हमारे यहाँ आया। इस रोगी के मानसिक अध्ययन से पता चला कि उसके मन मे अपने पिता के प्रति प्रबल घृणा का भाव था। इसके अतिरिक्त उसमे प्रबल समलिंगी व्यभिचार की भी प्रवृत्ति थी। इसके लिए उसकी अन्तरात्मा

उसे कोसती थी। वह अपनी इस नैतिक कमी को भुला चुका था और अब उसे कुष्ठ रोग हो जाने का भय ही सताते रहता था। जिन लोगों को इस प्रकार के अकारण भय हो जाते हैं उनके आन्तरिक मन में यह बात बैठी रहती है कि समलिंगी व्यभिचार से कुष्ठ रोग हो जाता है अथवा पितृद्वेष से कुष्ठ रोग होता है। अतएव जब कभी बाहरी परिस्थिति ऐसी उत्पन्न होती है जिससे उनके मन में पितृद्वेष का भाव आवे अथवा व्यभिचार की मनोवृत्ति उत्तेजित हो तो कुष्ठ रोग का भय पहले ही से उत्पन्न हो जाता है और इस प्रकार की प्रवृत्तियों के उत्तेजित होने से मनुष्य को बचाता है।

इसी प्रकार जिन लोगों के मन में एक ओर प्रबल नैतिक धारणा रहती है और दूसरी ओर प्रबल काम वासना रहती है उन्हें अकारण ही हृदय की धड़कन उत्पन्न हो जाती है। उन्हें भय हो जाता है कि कहीं वे एकाएक हार्टफेल हो जाने से न मर जायँ। किसी दूसरे व्यक्ति की धड़कन अथवा हृदय रोग से मरने की चर्चा सुनकर उन्हें हृदय की धड़कन प्रारम्भ हो जाती है और हृदय का रोग आकर घर दबाता है। वास्तव में इस प्रकार के रोग का कारण दमित काम वासना का उत्तेजित होना और नैतिकता द्वारा दमित किया जाना होता है। काम वासना की उत्तेजना और उसका दमन दोनों ही अज्ञात रूप से होते हैं। केवल उनके परिणाम मात्र मनुष्य की चेतना के समक्ष आते हैं। ऐसे व्यक्ति के जीवन में बाहरी रूप से बढ़ी चढ़ी नैतिकता पायी जाती है, परन्तु भीतरी मन से उन्हें अपनी नैतिकता की दृढ़ता में विश्वास नहीं रहता। बहुत से हृदय के रोग से पीड़ित व्यक्ति अनेक प्रकार के धार्मिक आचार-व्यवहार अथवा पूजा पाठ करते रहते हैं। परन्तु इस प्रकार के आचार व्यवहार अपनी आन्तरिक नैतिकता की कमी को भुलाने के उपाय मात्र होते हैं। इससे मनुष्य का मानसिक रोग नहीं जाता वरन् वह दृष्टि से ओझल हो जाता है।

मानसिक रोग की समाप्ति के लिए मनुष्य में आत्म-विश्वास का होना नितान्त आवश्यक है। यदि उसका धन कमाने सबधी आत्म-विश्वास खो गया है और इसके कारण वह रोगी बना हुआ है तो उसे इस संबंध मे आत्म विश्वास उत्पन्न करना होगा और यदि उसे अपनी नैतिकता के विषय में आत्म विश्वास खो गया है तो नैतिकता के क्षेत्र मे उसका आत्म विश्वास बढ़ाना होगा जब तक मनुष्य को अपनी सामर्थ्य में विश्वास नहीं होता चाहे यह सामर्थ्य लौकिक क्षेत्र मे हो अथवा नैतिक क्षेत्र मे, तब तक वह आरोग्य प्राप्त नहीं करता। इस सामर्थ्य की प्राप्ति अपने आप को भुलाने की चेष्टा करने से नहीं होती वरन् अपने आप को जानने से ही होती है। अपने आप को भुलाने से रोग बढ़ता ही जाता है। मनुष्य अपनी वास्तविक कमी को जब तक जानता नहीं है तब तक वह विजय प्राप्त कैसे कर सकता है ? जो अपनी गरीबी को इस कल्पना के द्वारा भुलाने की चेष्टा करता है कि वह एक राजा है वह अपनी गरीबी से मुक्त कैसे होगा, चाहे वह गरीबी भौतिक क्षेत्र की ही अथवा नैतिक; परन्तु यदि किसी मनुष्य को अपनी सभी कमियों का एकाएक ज्ञान हो जाय तो उसे जीना भी कठिन हो जायगा। कमियों का ज्ञान व्यक्ति के मन मे इतना दुःख पैदा करता है कि यह दुःख उसे असह्य होता है। इसीलिए ही मनुष्य इस ज्ञान को सामने न आने देकर रोग के दुःख को ही स्वीकार करता है। रोग प्रतीक रूप से मनुष्य की कमी को व्यक्त करते हैं। वे धीरे धीरे मनुष्य की कमी को उसके सामने लाते हैं और इस प्रकार उसकी मानसिक उलझनों को हटाते हैं। रोग आन्तरिक असन्तोष को हटाने के प्राकृतिक उपाय हैं।

मनुष्य अपनी कमियों का तभी सामना कर सकता है जब कि उसे भली प्रकार से प्रोत्साहित किया जाय। मनुष्य उसी कमी को स्वीकार करेगा जिस पर विजय प्राप्त करने का उसमें आत्म विश्वास रहेगा। यह आत्म विश्वास किसी प्रकार के दमन से अथवा दण्ड से उत्पन्न नहीं हो

सकता। यह केवल स्नेह से ही उत्पन्न हो सकता है। सच्चा मानसिक चिकित्सक रोगी को यह आत्म-विश्वास दिलाता है कि जिस कमी से वह इतना भयभीत है कि उसे स्वीकार ही नहीं करना चाहता वह असामान्य नही वरन् सामान्य है। सभी लोगों में इस प्रकार की कमी रहती है और वे इन कमियों पर विजय भी प्राप्त करते हैं। अनेक प्रकार के उदाहरण देकर रोगी के मन मे यह बैठाना पड़ता है कि उसकी असफलता असामान्य नहीं वरन् सामान्य वस्तु है और उसे इस असफलता से हतोत्साह न होना चाहिए।

चिकित्सक एक ओर रोगी को अपनी कमियों पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करता है और दूसरी ओर उसे झूठे अभिमान से मुक्त होने के लिए भी सहायता देता है। मनुष्य दो प्रकार की भूलें करता है—एक तो वह नैतिकता के प्रतिकूल आचरण करता है अथवा अपने को महान बनाने की ओर ले जाने वाली बात के प्रतिकूल चलता है और दूसरे वह अपनी कमी को भी भुलाने का प्रयत्न करता है। ससार की दुर्घटनाएँ और शारीरिक तथा मानसिक रोग सुधारक दण्ड के रूप में मनुष्य के जीवन में आते हैं। वे एक ओर उसकी कमियों को व्यक्त करते हैं और दूसरी ओर उसके अभिमान को घटाते हैं। मनुष्य के अभिमान को घटाना ही रोगों का प्रधान उद्देश्य रहता है। यदि मनुष्य अपने अभिमान को अपने-आप घटा ले और किसी बात में असाधारण बनने की चेष्टा न करे तो उसे इतने भारी पुरुषार्थ की आवश्यकता ही न हो जितने भारी पुरुषार्थ की उसे अन्यथा आवश्यकता होती है और जिसके न कर सकने के कारण उसे कमी की अनुभूति होती है। मानसिक चिकित्सक रोगी में अपने स्नेह के द्वारा सच्चा आत्म-विश्वास उत्पन्न करता है। इसके उत्पन्न हो जाने पर मनुष्य को न केवल उसकी भौतिक वरन् नैतिक कमियाँ भी नगण्य दिखाई देने लगती हैं। इस प्रकार का आत्म-विश्वास उत्पन्न

करने के लिए चिकित्सक को रोगी के किसी ऐसे गुण का चिन्तन करना पड़ता है जिसमे वह उसे पूरे मन से प्राप्त कर सके।

रोगी मे अनेक प्रकार के दुर्गुण होते ही है। रोगी दुर्गुणों को छिपाने का यत्न करता है; उसी के परिणाम स्वरूप उसे रोग होते हैं। रोगी इन दुर्गुणों से मुक्त होने की आशा नहीं करता। यदि चिकित्सक भी इस मत का हो जाय कि उसके दुर्गुण किसी प्रकार समाप्त नहीं हो सकते अथवा रोगी अपनी कमियों पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता तो वह रोगी को कोई भी लाभ नहीं पहुँचा सकता, वह चाहे कितना ही कुशल मनोवैज्ञानिक अथवा मनोविश्लेषक क्यों न हों। जब तक चिकित्सक रोगी को स्नेह नहीं करता तब तक रोगी के आन्तरिक मन का अपने ही प्रति घृणा का भाव समाप्त नहीं हो सकता। मनोविश्लेषक केवल इतना ही करता है कि वह मनुष्य की घृणित अथवा भयानक भावनाओं को मनुष्य की चेतना की सतह पर ले आता है; परन्तु जब तक वह मनुष्य मे इस पुरुषार्थ का उदय नहीं करता कि वह इन घृणित अथवा भयानक भावनाओं पर विजय प्राप्त कर ले तब तक ये भावनाएँ सच्चे रूप मे चेतना की सतह पर नहीं आएँगी और यदि वे आ भी गईं तो फिर से अन्तर्धान हो जाएँगी।

डा० फ्रायड की खोज के परिणामस्वरूप अब हम अन्तर्मन की ऐसी अनेक बातो को जानने लगे हैं जो हमे पहले ज्ञात नहीं थीं। मनोविश्लेषण विज्ञान मनुष्य के अन्तर्मन को व्यक्त करने का साधन है। मनोविश्लेषण विधि के द्वारा बहुत से रोगी अच्छे हो जाते थे, परन्तु इनके अच्छे हो जाने का रहस्य रोगी का मनोविश्लेषण नहीं था, वरन् चिकित्सक का रोगी को सच्चे स्नेह युक्त शब्दों के द्वारा प्रोत्साहन था। मनोविश्लेषण केवल रोगी को चिकित्सक के प्रति सच्चा बनने मे, उसके समक्ष सब प्रकार की आत्म-स्वीकृति करने मे सहायक होता है। चिकित्सक के समक्ष आत्म स्वीकृति करना अपने आदर्शमय स्वत्व के

प्रति ही आत्म स्वीकृति करना है। चिकित्सक के लिए रोगी अपने ही आदर्श स्वत्व का प्रतीक होता है। अतएव चिकित्सक के प्रति आत्म स्वीकृति करने से एक उचित माध्यम के द्वारा मनुष्य के आदर्शात्मक स्वत्व और भोगेच्छुक स्वत्व मे एकता स्थापित होती है; परन्तु यह एकता तभी स्थापित होगी जब कि चिकित्सक रोगी को उतना ही अधिक प्यार करते जाय जितना रोगी उसके समक्ष आत्मस्वीकृति करे। यदि रोगी की किसी बात को जानकर चिकित्सक उसे घृणा करने लगे तो इससे न केवल रोगी की हानि होगी, वरन् चिकित्सक की भी हानि होगी। अपने स्वार्थवश किसी मानसिक रोगी की चिकित्सा करना अथवा किसी रोगी की कमजोरियों को जानकर उससे घृणा करने लग जाना चिकित्सक के लिए बहुत ही हानिप्रद है। इससे कभी कभी मानसिक रोगी का रोग चिकित्सक को ही लग जाता है। चिकित्सक रोगी की वहीं तक सहायता कर सकता है जहाँ तक वह रोगी की गुप्त मन की क्रियाओं मे अपनी ही क्रियाओं का स्पष्टीकरण देखता है। जो रोगी का मन करता है वही सभी लोगों का मन करता है। हम दूसरे का मन समझ कर अपने ही मन की गुप्त बातों को जानते हैं और इस प्रकार आत्म-साक्षात्कार करते हैं। मानसिक चिकित्सा के आधुनिक काल के सर्व श्रेष्ठ विशेषज्ञ चार्ल्स-युंग महाशय का तो यह कथन है कि चिकित्सक रोगी को तभी अच्छा कर सकता है जब वह रोगी के समक्ष उसी प्रकार की आत्मस्वीकृति करे जिस प्रकार का आत्म-स्वीकृति वह रोगी से चाहता है। जितना ही चिकित्सक अपने आप अभिमान-रहित होगा, वह रोगी को उतना ही अधिक अभिमान से मुक्त कराने मे सहायक होगा। स्नेह बराबरी के लोगों मे होता है। अगर चिकित्सक अपने को महान व्यक्ति समझता है और रोगी को नगण्य व्यक्ति समझता है अथवा पापी और अपराधी मानता है तो वह रोगी की कोई भी सहायता करने मे समर्थ न होगा।

मनुष्य सम्पूर्ण आरोग्य तभी प्राप्त करता है जब वह अपने सच्चे

स्वत्व को पहचानता है। इसके पहचानने पर मनुष्य को झूठे अभिमान की आवश्यकता नहीं होती। धन का, विद्या का, कुल का, पद का और अपनी नैतिकता का अभिमान सभी झूठे अभिमान हैं। यह सब अभिमान मनुष्य में आन्तरिक पूर्णता के अभाव के द्योतक है। मनुष्य बाहरी पूर्णता के लिये लालायित तब तक रहता है जब तक उसे आन्तरिक पूर्णता का ज्ञान नहीं रहता। आन्तरिक पूर्णता का ज्ञान अन्तर्मुखी बनने से होता है। जिस चिकित्सक को स्वयं इस पूर्णता का ज्ञान है वह प्रत्येक व्यक्ति मे उस पूर्णता की उपस्थिति को देखता है वह इसके कारण ही उसे स्नेह करता है। इस पूर्णता के रहते हुए मनुष्य की दूसरी सभी प्रकार की अपूर्णताएँ काल्पनिक हैं। सच्चा चिकित्सक रोगी को एक ओर उसकी काल्पनिक पूर्णताओं के अभिमान से मुक्त करता है और दूसरी ओर वह उसे तत्संबंधी कमियों से भी मुक्त करता है। यह कार्य रोगी के प्रति स्नेह के व्यवहार से सरल हो जाता है। सच्चे चिकित्सक की सहायता से मनुष्य अपनी अन्तरात्मा की शक्ति का साक्षात्कार करता है। अन्तरात्मा का ज्ञान वह शक्ति है जिसकी थोड़ी सी भी चिनगारी अनेक प्रकार की कलुषित भावनाओं को तथा अनैतिक आचरण की प्रवृत्तियों को क्षण भर मे समाप्त कर देती है। इसके स्मरण मात्र से मनुष्यको अपार मानसिक शक्ति प्राप्त होती है। उसमें नए पुरुषार्थ का उदय हो जाता है और उसके अनेक प्रकार के मानसिक द्वन्द्व क्षण भर में समाप्त हो जाते हैं। डा० विलियम ब्राउन ने जो आत्म-निर्देश की विधि बताई है वह वास्तव में अन्तरात्मा से सम्पर्क स्थापित करने की विधि है।

अपनी अन्तरात्मा से सम्पर्क स्थापित करने के लिए किसी एक ऐसे माध्यम की आवश्यकता होती है जिसका नैतिक जीवन उच्च स्तर का हो और जो हमें पूरे मन से प्यार करता हो, जिसके समक्ष यदि हम अपनी कमजोरियों को स्वीकार करें तो यह भय न हो कि हम उसका स्नेह खो

देंगे। ऐसा व्यक्ति हमारी आत्मा का ही प्रतीक होता है। इससे एकता स्थापित करने से हम अपने सर्वोत्तम स्वत्व से एकत्व स्थापित कर लेते है और जितना ही हम ऐसे व्यक्ति के कृपा पात्र बनते हैं अपनी आत्मा के कृपापात्र बन जाते हैं। मनुष्य को सबसे अधिक ताड़ना बाहरी परिस्थितियों और मनुष्यों से नहीं मिलतीं, उसे सबसे बड़ी ताड़ना अपनी अन्तरात्मा से ही मिलती है और जब हम आत्मा की अनुकूलता प्राप्त कर लेते हैं तो सभी प्रकार के जीवन में सफलता तथा मानसिक और शारीरिक आरोग्य प्राप्त कर लेते हैं।

मनुष्य को सभी प्रकारके रोग आत्म-विस्मृति के कारण उत्पन्न होते हैं। रोग असमर्थता तथा परावलम्बन का द्योतक है। जैसे जैसे मनुष्य अपने मन को समझता है और उसे मन के आन्तरिक भाग मे छिपी शक्ति को मानता है वह अपने आपमे नये सामर्थ के उदय का अनुभव करने लगता है। मनुष्य की कार्य क्षमता उसके अपने मन के ज्ञान के ऊपर मिर्भर करती है। इसी प्रकार उसका स्वास्थ्य भी उसकी अपने ही विषय मे धारणा के ऊपर निर्भर करती है। जब किसी व्यक्ति के मन में कोई बिचार बार बार आता है तो वह केवल बिचार न रह कर भाव अथवा स्थायी भाव का रूप ले लेता है। यह स्थायीभाव मनुष्य के अन्तः मन मे घर कर लेता है। यदि यह स्थायी भाव अपने अनुकूल हुआ तो मनुष्य सभी ओर प्रगति करता है और यह प्रतिकूल हुआ तो मनुष्य चारों ओर अवन्नति करने लगता है। सच्चा मानसिक चिकित्सक रोगी के विचार ही परिवर्तित करने की चेष्टा नहीं करता वह उसके भावों को बदलने की चेष्टा करता है। इसके रोगी को भावातुर बनाना आवश्यक है। जब चिकित्सक रोगी को प्यार करता है तब रोगी का हृदय द्रवित हो जाता है। साधारण स्नेह के कारण रोगी का हृदय उसी प्रकार का बन जाता है जिस प्रकार का चिकित्सक का हृदय होता है। इस प्रकार चिकित्सक के सद्भाव, सामर्थ और स्वास्थ्य रोगी की सम्पत्ति बन जाते हैं। चिकित्सक

रोगी की अपने ही विषय में धारणा बदल देता है। मनुष्य की अपने विषयमे धारणा बदल जाने से वह स्वय बदल जाता है।

मानसिक चिकित्सा की पहली अवस्था मे रोगी को चिकित्सक की आवश्यकता होती है। रोगी मनुष्य में अपनी धारणाओं को, अपने विचारों और उनके प्रेरक स्थायी भावों को बदलने की शक्ति नहीं रहती। यह शक्ति विरले ही आरोग्यवान् व्यक्ति मे रहती है। अतएव रोगी को चिकित्सक की सहायता की आवश्यकता होती है। परन्तु जैसे जैसे मनुष्य आरोग्यवान बनते जाता है उसमे आत्म-निरीक्षण करने की और अपने आपको विशेष ओर मोड़ने की शक्ति का उदय हो जाता है। फिर वह अपने ही प्रयत्न से अपना आत्म ज्ञान बढाता और अपने आपको भले मार्ग में लगाये रहता है। जो मनुष्य सदा आत्म-निरीक्षण करते रहता है उसे रोगी बनने की आवश्यकता नहीं होती। अज्ञानी और परावलम्बी व्यक्ति रोगी होता तथा स्वावलम्बी और सतर्क सदा आरोग्यवान रहता है।

स्वावलम्बन की ओर

मानसिक रोगों की चिकित्सा के दो प्रकार हैं—एक भौतिक और दूसरे मनोवैज्ञानिक भौतिकि चिकित्सा में औषधियों अथवा बिजली के झटकों का प्रयोग किया जाता है और मनोवैज्ञानिक चिकित्सा मे भावों और विचारों को बदलने की भावों तथा विचारों के द्वारा ही की जाती है।

औषधियों का प्रयोग रोगी के पेट साफ करने, पाचन क्रिया को बढ़ाने और रुधिर प्रवाह को ठीक करने के लिये तथा निद्रा लाने के लिये किया जाता है। शरीर की दशा सुधरने से और विशेषकर नींद के आ जाने से मानसिक क्रिया मे अपने आप ही ठीक हो जाती है। दूसरे मानसिक रोग में स्नायुओं का दोषतम होता है। इस दुर्बलता को हटाने से रोग अच्छा हो जाता है। यदि रोगी के शारीरिक सुधार से भी एक बार यदि मन की गति एकबार ठीक हो जाय तो फिर यह गति बाद मे अपने आपने आप ही ठीक रहती है। बिजली के झटके शारीरिक जड़ता को हटाने के लिये

उपयोग मे लाये जाते हैं। शरीर मे उथल-पुथल होने से मानसिक उथल पुथल हो जाती है और फिर किसी न किसी प्रकार कभी कभी रोगी को लाभ हो जाता है।

मनोवैज्ञानिक चिकित्सा मे शरीर के द्वारा मन को प्रभावित करने की अपेक्षा सीधे मन को ही प्रभावित करने की चेष्टा की जाती है। यह चिकित्सा दो प्रकार की होती है—एक पराश्रित और दूसरे स्वाश्रित। पराश्रित चिकित्सा मे रोगी अपने आपको चिकित्सा के ऊपर आरोग्य प्रदान करने के लिये छोड़ देता है। जितना ही रोगी का चिकित्सक में अधिक विश्वास होता है उतना ही रोगी को अधिक लाभ होता है। रोगी के मन मे विश्वास उत्पन्न करने के लिये चिकित्सक के मन रोगी के प्रति स्नेह और सच्ची सद्भावना रहना नितात आवश्यक है। जितना ही चिकित्सक उदार मनोवृत्ति का होगा उतना ही रोगी शीघ्र और स्थायी लाभ होगा।

पराश्रित चिकित्सा भी दो प्रकार की होती है—एक निर्देशात्मक और दूसरी विश्लेषणात्मक का पुरानी पद्धति निर्देश की है और नवीन विश्लेषण की। झाड़फूक के द्वारा भूत बाधाओ को हटाना, सम्मोहन द्वारा हिस्टीरिया और लकवा ठीक करना निर्देशविधि के उदाहरण है। इस विधि का उपयोग मेसमर, इमीलकूये करते थे। मनोविश्लेषण विधि का अविष्कार डाक्टर फ्रायड ने किया। इस विधि मे रोग के कारण जानने की चेष्टा की जाती है। इसके लिये रोगी की जीवनी, उसके विस्मृत भावात्मक अनुभव, उसके स्वप्न और भविष्य सम्बन्धी कलाओ का अध्ययन किया जाता है। रोग दमितभावो के चेतना के सतह पर आने से समाप्त होता है। डाक्टर फ्रायड के अनुसार मनोविश्लेषण से रोगी चिकित्सक को स्नेह करने लगता है और यही उसके रोग की समाप्ति का कारण होता है।

स्वाश्रित मनोवैज्ञानिक चिकित्सा मे रोगी चिकित्सक से सलाह लेकर

अपना सुधार अपने आप ही करता है। जिस प्रकार छोटी कक्षाओं का बालक शिक्षक पर अपने मनोविकास के लिये निर्भर करता है और बड़ी कक्षा का बालक अपनी शिक्षा स्वयं कर लेता है इसी प्रकार दीन अवस्था का रोगी मानसिक चिकित्सक पर निर्भर करता है परन्तु जब वह कुछ आत्म-विश्वास प्राप्त कर लेता है तो अपने मन का नव निर्माण स्वयं करने लगता है। स्वाश्रित चिकित्सा दो प्रकार की होती है—एक आत्म-निर्देशात्मक और दूसरी आत्मज्ञानात्मक। डाक्टर विलियम ब्राऊन ने पहले प्रकार की चिकित्सा को मानसिक और शारीरिक रोगो के नष्ट करने मे बड़ी उपयोगिक बताई है। अपनी मानसिक शक्तियों को बढ़ाने के लिये प्रत्येक स्वस्थ्य व्यक्ति इसे काम मे ला सकता है। इस विधि के द्वारा काशी मनोविज्ञानशाला के कुछ साधक शारीरिक रोगों से न केवल मुक्त हुए वरन् कुछ चिकित्सक बन गये और कुछ अनेक प्रकार से दुःखी व्यक्ति विश्वविद्यालय की परीक्षाओं मे सर्वप्रथम आने लगे।

आत्म ज्ञान मानसिक चिकित्सा की सर्वोत्कृष्ट विधि है। इसे डाक्टर विलियम ब्राऊन मे "आरोग्लोसिस" कहा है। डा० हेडफील्डने इसे "रिडक्टिव एनालैसिक" कहा है। इस विधि में मनुष्य अपने भयावने विचारों से भागने की चेष्टा न कर उन्हें अपने सामने आने की छूट दे देता है। जिन विचारों को हम गन्दे समझते हैं वे ही भयंकर बन जाते हैं। जब हम उन्हें अपने व्यक्तित्व के अनिवार्य अंग समझ कर उचित स्थान दे देते है तो वे अपनी शक्ति हमें प्रदान करते हैं। यह आत्म रेचन की बिधि है। आदर्शवादी व्यक्तियों को आत्म विवेचन करते रहना नितांत आवश्यक है। प्रति गंन्दे, दुष्ट, भयावने विचारों थोड़े समय के लिये चेतना की सतह पर आने की छूट देदेना चाहिये। जब यह नहीं किया जाता तो व्यक्ति पागल खाने की तैयारी कर लेता है। फिर जिस प्रकार भगवान बुद्ध को निर्वाण के समय मार दर्शन हुआ सभी लोगों यह मार दर्शन होता है। इस दर्शन से हमारा सम्पूर्ण मन हमारा मित्र बन जाता है।

आत्म रेचन मानसिक सम्पूर्णता लाने की पहली सीढ़ी है। आत्म रेचन के साथ साथ एक नये दृष्टिकोण, एक नये दर्शन का निर्माण होता है। यह दृष्टि विन्दु समन्वयात्मक होता है। इस दृष्टि बिन्दु से मनुष्य अपनी सभी अकल्याणकारी बातों में भलाई देखने लगता है। संसार के प्रमुख मनोवैज्ञानिकों का मत है कि जब मनुष्य को उचित दर्शन नहीं प्राप्त हो जाता तब तक वह अपने मानसिक रोग से पूर्णतः मुक्त नहीं होता।

सभी प्रकार की मनोवैज्ञानिक चिकित्साओं में रोगी की आरोग्य प्राप्ति की अपनी इच्छा का बड़ा ही महत्व है। भौतिक चिकित्साओं में इसका महत्व नहीं है। इसलिये ही भौतिक चिकत्सामें अधूरी अथवा अस्थायी होती है। जब तक स्वयं रोगी मे स्वस्थ रहने की अपनी उन्नति की अभिलाषा नहीं उत्पन्न हो जाती उसे स्थायी लाभ होना कठिन है। मनोवैज्ञानिक का कार्य रोगी में नया उत्साह आत्म-विश्वास और प्रयत्न को इच्छा जाग्रत करने में है। जब रोगी में ये बातें आ जाती है तभी उसे स्वस्थ मानना चाहिये।